प्रकाशक:—
सुमेर चन्द्र जैन
१५, प्रेमपुरी
मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)

संशोधक:—
श्री सन्तोष कुमार
एम० ए०, एल-एल० बी०
मुजफ्फरनगर।

प्रकाशन में आर्थिक सहायता प्रदान की:—
५००) श्री नेमचन्द सुखमाल चन्द जैन सर्राफ
मुजफ्फरनगर।
शेष ————"अपनी ओर

मुद्रक:—
अलङ्कार प्रेस,
मुजफ्फरनगर।

शान्ति मूर्ति तत्व ज्ञान निधि ब्र० कुमारी कौशल जी

# सुप्रसिद्ध ब्र० बहिन कु० कौशल जी के आशीर्वचन

जीवन की दो अवस्थायें हैं--जाग्रत व निद्रित। सामान्यतः म्पूर्ण जगत् निद्रित है। इसी मूर्च्छा के कारण इतना संघर्ष,अनाचार, र्षा, घृणा आदि की असम्यक प्रवृत्तियें होती है। जाग्रत अवस्थामें ोई व्यक्ति असत् प्रवृति नहीं कर सकता। अतः उस जागरण को ानेके लिए ध्यानकी प्रक्रिया है।

धर्मका अर्थ पूजा, उपवास, जप, तप आदि नहीं है। धर्मका र्थ है स्वभाव और स्वभावका अर्थ है जो होता है किया नहीं जाता। यान स्वभाव में ले जानेका द्वार है और इसीलिए ध्यान करने से हीं होता है—वस जो तुम हो वही…वस वहीं……।

ध्यान विषयक कुछ सूत्र कुछ प्रेमी भाइयों ने संकलित किये । यद्यपि ये अपने आप में पूर्ण तो नहीं है किन्तु अपने विषयका कुछ दग्दर्शन कराने में पर्याप्त है। आशा है इनसे प्रकाशक व पाठकोंमें कन्हीं सुप्त चेतनाओं के तार झंकृत हो सकें।

मेरे थिरकते कदम व लड़खड़ाती पग चापसे कुछ विकृत ाहट हो सकती है अतः वह क्षम्य है।

—कु० कौशल—

# प्रकाशकीय

मुमुक्षुजनो का महा भाग्य का उदय हुआ कि परमपूज्य वहिन श्री कुमारी कौशल्य जी ने हमारी सविनय प्रार्थना पर मुजफ्फरनगर पधार कर दो मास (दिसम्बर ७० व जनवरी ७१) के लिए मौन एवं ध्यान साधना योग धारण किया। ऐसा मौन एवं ध्यान अन्यत्र न देखने को मिला और न ही सुनने को मिला। वहिनश्री को शारीरिक स्वास्थ अच्छा न रहने पर भी अपनी साधना पर निश्चल और अडिग देखा। ऐसा होना कोई साधारण मनुष्य की बात नहीं है। उस समय में आपने किसी प्रकार का कोई इशारा तक भी तो नहीं किया। इससे बढ़कर मौनकी और विशेषता क्या हो सकती है? इसी बीच मनोविज्ञान के डा० के० पी० जे० जो जर्मनी में रह रहे हैं उन को भी पूज्य वहिन श्री के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ, तो उन्होंने मुझको बताया था कि 'वहिन श्री के द्वारा अनेकों भव्य जीवों का कल्याण होगा और जो विशेपतायें उनकी आकृति से जाहिर हैं वह विरले जीवों में ही होती हैं' डाक्टर साहब को शीघ्र ही जर्मनी लौटना था वह वहिन श्री के प्रति महान धारणा लेकर गये।

वहिन श्री के पवित्र जीवन से नित्य–निरन्तर भगवद्-रस की विश्वपावनी अखण्ड सुधा–धारा प्रवाहित होती रहती है जो जगत के जीवों को मृत्यु के भीपणपाशसे मुक्त कर अमृतत्व प्रदान करती है। आप ज्ञान की ज्योति पुंज है। वास्तव में आप जाति, सम्प्रदाय, देश आदि की सीमा से बाहर पहुंची हुई या इस जागतिक प्रपंच के स्तर से बहुत ऊपर उठी हुई हैं। आप अनेकों सुधार की चिनगारियां प्रज्वलित कर रही हैं-जिन चिनगारियों ने ज्वलन्त ज्वाला बनकर रूढ़ियों को भस्म कर समाज को सुसंस्कृत बनाने में एक महान योग प्रदान किया है। आप विरक्त होते हुए भी सहज ही जन कल्याण में

प्रवृत्त रहती हैं। इसी कारण आपने दो मास के मौन एवं ध्यान साधना के बहुमूल्य समय में से अपने अनुभव का दोहन करके उन भावों को विस्तृत और स्पष्ट कर उपदेश रूप नित्य प्रति आधा घण्टा अमृत पान कराया। आपके विचार, चारित्र और दिन चर्या इत्यादि को देखकर आपके प्रति हृदय में बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हुई। सौभाग्यवश आपकी भी हमारे ऊपर बड़ी कृपा हुई जो आपके सत्यसङ्ग से लाभ मिला वह अवर्णनिय है। फलस्वरूप अनेकों वहनों और भाइयों ने ६ मास के लिए प्रतिदिन १५ मिनट के लिये मौन एवं ध्यान साधना की प्रतिज्ञा ली जिसके द्वारा जीवन में एक महान परिवर्तन आया।

पूज्य वहिन श्री के उपदेशामृत को इस हेतु संकलित किया कि इन उपदेशों का जिनमें कि अपनी ओर वढ़ने का एक मार्मिक ढंग से पररूपण किया गया है जिज्ञासुओं को नित प्रति स्वाध्याय करने का सुवासर प्राप्त हो सके। 'अपनी ओर' के प्रकाशन के लिए वहिनश्री से अनुमति चाही तो आप नहीं चाहती थी कि प्रकाशन हो। लेकिन जब आप से अपने स्वार्थ भरे शब्दों में प्रार्थना की तो महान उपकारी वहिन श्री ने इस महान ग्रन्थ 'अपनी ओर' को प्रकाशित कराने की स्वीकृति प्रदान कर जिज्ञासुओं के प्रति एक महान उपकार किया।

'अपनी ओर' में वताया कि 'मन रोका नहीं जाता मन मरा करता है।' इस गुत्थी को अत्यन्त सुस्पष्ट और सुवोध प्रवचन द्वारा धर्म जिज्ञासुओं को अपूर्व यथार्थ समाधान कराया। जो चीज दुर्लभ थी वह पूज्य वहिन श्री ने जिज्ञासु पात्र जीवों के लिए सुगम, सुलभ कर दी है इस पुस्तक में ध्यान के रहस्य भूत विषयों को विशेष स्पष्ट किया गया है। इन भावों को जिज्ञासु भावसे शान्तिपूर्वक गम्भीरतया विचार करें और सम्यक पुरुषार्थ को समझकर निज कल्याण करें इसी में मानव जीवन की सफलता है।

प्रस्तुत पुस्तक के निर्माण में जिनसे मुझे साहस मिला उनमें हैं श्री सन्तोष कुमार जी रईस एम०ए०, एल-एल०बी० मुजफ्फरनगर

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

मानता हूं और श्री [illegible] जी जैन [illegible]

एवं डा० [illegible] जी जैन एम०ए०, पी-एच० डी० [illegible]

पर अपनी बहुमूल्य और उदार सम्मति [illegible]

है उसके लिए मैं उन्हें क्या कहूं।

श्रीमान् लाला [illegible] जैन सर्राफ [illegible] मुजफ्फरनगर ने जब यह सुना कि मैं पूज्य बहिन श्री के उपरोक्त प्रवचनों को प्रकाशित करा रहा हूं तो आपने तुरन्त ही ५०० रुपये की धनराशी देना स्वीकार कर लोकहित का महान कार्य किया है। जिसके लिए मैं आपको हार्दिक धन्यवाद देता हूं।

जहां कल्याण का भाव होता है वहां आत्म विश्वास का उदय होता है। यह स्वावलम्बन के चरणचिन्हों पर चलकर प्राप्त होता है। सबल चरण जिस ओर बढ़ पड़ते हैं अनुगामी अपने आप जुट जाते हैं इस प्रकाशन में बहिन कौशल जी के उपदेशों का संग्रह सार-रूप में प्रस्तुत किया गया है। जिन बहिनों और भाइयों ने मौन साधना के समय पूज्य बहिन श्री के द्वारा उपदेशामृत सुना था उनको इस पुस्तक के पढ़ने से सुने हुएउपदेशों के स्मरण का लाभ होगा और जो उस समय नहीं सुन पाये थे उन्हें भी पूर्ण लाभ मिल सके इसी हेतु यह उपदेशामृत का सार 'अपनी ओर' उपस्थित किया जा रहा हैं। विश्वास है इससे जिज्ञासु जन अवश्य लाभ उठायेंगे।

—सुमेरचन्द जैन—

# हृदयोद्गार

'अपनी ओर' पुस्तक की पाण्डुलिपि पढ़ने का मुझे सुअवसर प्राप्त हुआ है। पुस्तक क्या है? सद्विचारों की अमूल्यनिधि है। जैसा नाम वैसा गुण, पुस्तक पढ़ते पढ़ते चित्त इतना रमा कि उसको आद्योपान्त पढ़ने के लोभ का संवरण मैं न कर सका )

ऋगवेद में कहा है 'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः' सुन्दर एवं शुभ विचार हमारे अन्दर चारों ओर से प्रवेश करें। इतना कह देने मात्र से ही कुछ होने वाला नहीं है जब तक उसके लिए प्रयत्न न हो। बहिन कौशल जी की उक्त पुस्तक उनके मुजफ्फरनगर में मौन काल में दिये गये प्रवचनों का अपूर्व संग्रह है। भाई श्रीयुत सुमेरचन्द जी जैन ने जिस सावधानी, लग्न व निष्ठा से इन प्रवचनों को लिपि-बद्ध किया है वह वास्तव में सराहनीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका यह प्रयत्न वेद-वाक्य को फलितार्थ करने की दिशा मे एक कदम है। इसका आभास आपको पुस्तक के पढ़ने पर ही होगा।

पुस्तक में 'मन की पवित्रता','नम्रता', 'सहजानुभूति' 'ऋजुता जीवन का सार'. 'बाह्य नहीं अन्तर को संवारिये', 'अज्ञात की ओर' आदि अनेक गूढ़ विषय बहिन कौशल जी ने सरलतापूर्वक एवं हृदय-ग्राही ढंग से समझाये हैं। पढ़ते पढ़ते आत्मबोधन् के दर्शन भी आपको इस पुस्तकमें होंगे। पुस्तकके कतिपय प्रेरक प्रसंग नीचे दिये जारहे हैं-

'स्वयं के भीतर खोजिए, स्वयं को पढ़िये, क्या चल रहा है भीतर? केवल स्वयं को देखने का साहस व प्रयास ही आध्यात्मिक साधना है जैसे ही भीतर देखेंगे तो पायेंगे कि अनेक व्यक्ति बोल रहे हैं। हमारा व्यक्तित्व अनेक भागों में विभक्त हो गया है घृणा, मान, द्वेष, क्रोध, लोभ, मत्सर आदि।'

'प्रत्येक व्यक्ति को ख्याल है कि मैं कर रहा हूं, कर तो हम बहुत कम रहे हैं लेकिन कर्ता बहुत बड़ा खड़ा कर लेते हैं उन कर्ताओं

में, उन अहंकारों में संघर्ष होता है। दुनिया में जो भी असुविधा है वह अहंकारों के संघर्ष से पैदा होती है।

'जितनी ही भीतर शान्ति होगी, निष्क्रिय चित्त होगा मौन आत्मा होगी उतनी ही वह मौन आत्मा शक्ति की स्रोत बन जायेगी जितनी बेचैन, अहंकारग्रस्त, द्वन्द-ग्रस्त, तनाव व अशांति से भरी आत्मा होगी उतनी ही शक्तिहीन हो जाती है।'

'जीवन की शान्ति का द्वार ध्यान है और सन्यास उसका फल है। जब व्यक्ति ध्यान द्वारा स्वयं की चेतना में पहुंच जाता है। परमात्मा को उपलब्ध हो जाता है तब उसके लिये घर व बाहर सब बराबर हो जाते हैं। लौकिक धर्म भी पूजा बन जाते हैं। कुटुम्बियों का पोषण भी परमात्मा की सेवा बन जाता है। घर और बाहर के घेरे टूट जाते हैं वही सच्चा सन्यास है।'

यह तो रही इस पुस्तक की बानगी। जब आप इसे पढ़ेंगे तब इससे भी कहीं अधिक आपको इसमें मिलेगा। फिर सच भी तो है 'जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ।' मुझे विश्वास है कि शुद्ध, परिमार्जित एवं प्रबुद्ध विचारों से पूर्ण यह पुस्तक आपके अन्तरतम को अवश्य ही आलोकित करेगी।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस प्राय कहा करते थे—

'पंचांग में लिखा है कि पर्याप्त वर्षा होगी परन्तु समूचे पंचांग को निचोड़ने पर एक बूंद भी जल नहीं निकलता, इसी प्रकार पोथियों में अनेक धर्म-विषयक बातें होती है पर पढ़ने मात्र से लाभ होने वाला नहीं, साधना की आवश्यकता है।' आप स्वयं विज्ञ हैं अधिक क्या कहूं।

ईश्वर करे आपका मार्ग सुखद हो।

सन्तोष कुमार
एम० ए०, एल-एल० बी०

# कहां क्या पढ़िये ?

# मनकी पवित्रता

८ दिसम्बर १६७०

१- जिस प्रकार वस्त्रों को रोज धोकर स्वच्छ किया जाता है। इसी प्रकार मन को भी जो भीतर के वस्त्र हैं उनको भी नित्य साफ किया जाना चाहिये।

२- धूल सहित दर्पण में व तरंग सहित सागर में सही प्रतिविम्ब नहीं पड़ता, इसी प्रकार विकल्प सहित मन में आत्मा वा परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता।

३- भीड़में व्यक्ति अपने मन की चंचलता को भूला रहता है, वास्तव में अन्तरंग की चंचलता व कुरूपता को भुलाने के लिए ही व्यक्ति भीड़में जाता है।

४- एकांतमें तरंगायित मन दिखाई देता है तभी उसके विकल्पों को शांत करने का प्रयास भी कर सकता है।

५- दैनिक विकल्पों के प्रशमनार्थ दैनिक सीमित काल के लिए मौन हो तथा वार्षिक विकल्पों के प्रशमनार्थ वार्षिक मौन व एकांत वास होना उपयुक्त है।

६- एकांत में मौन पूर्वक बैठकर अपने अन्तरंग संसार का दर्शन करे, अन्तरंग विकल्पों के प्रति सजग हो जाये।

७- सम्पूर्ण सम्पर्कों से हट कर ही आत्म निरीक्षण हो सकता है।

८- आत्म कल्याण मुख्य है, जो व्यक्ति भीतर से आनन्द शून्य हो जायेगा तो वह दूसरों को क्या बांट सकेगा क्योंकि उसके पास तो स्वयं के पेट के लिए ही कुछ न बचा है।

६- जगत के मुमुक्षु जन भी साधक को इतना ही पकड़े कि वह ठोकर खाकर न गिर पड़े।

# नम्रता

११ दिसम्बर १९७०

१- हे आत्मन ! जिस कल्याण के पथ पर चला है उन पर अविराम गति हो, कहीं चरण डगमगाने न लग जायें, जरा सम्भल ।

२- प्रचार व जन कल्याण भी सीमा में होना चाहिये । देख ! कहीं तेरी साधना का दिवाला न निकल जाये ।

३- बाजों व फूलों की होड़ व प्रशंसा गीतों की झनकार उत्पन्न करके तेरी सफलता को छीन लेगी ।

४- नमना ही एक सहज भाव हो जो सबसे गुण लेना जानता है ।

—:०:०:—

# सहजानुभूति

**१७ दिसम्बर १९७०**

१- परमात्मा कोई व्यक्तिवत् दृष्ट नहीं है। जो उसको व्यक्ति वत् देखना चाहता है, वह भूल में है। क्योंकि परमात्मा एक भावात्मक तत्व है द्रव्यात्मक नहीं।

२- निर्विकल्प सहज शांत व आनन्दमय अनुभूति ही परमात्मा है। अतः परमात्मा देखा नहीं अनुभव किया जायेगा। परमात्मा को देख नहीं सकते परन्तु परमात्मा बन अवश्य सकते हैं।

३- जिसको सहजानन्द की अनुभूति होती है और जो उस समरस भाव में लीन रहते हैं ऐसे महापुरुष साकार परमात्मा कहे जाते हैं उन्हीं को हम विभिन्न आकृतियों अर्थात् शरीरों में देखते हैं।

४- वह परमात्मा इन्द्रियों व मन के अगोचर हैं अतः हमारी बुद्धिगम्य नहीं।

५- जहां तक शब्द व सूक्ष्म जल्प भी है वहां तक परमात्मा नहीं, क्योंकि शब्द मन का विषय है और परमात्मानुभूति मन के अगोचर है।

६- हमारी सम्पूर्ण कल्पनायें मनः प्रसूत है अतः इससे हम परमात्मा का अनुमान नहीं कर सकते। जैसे ही हम मन से कुछ विचार करते हैं तैसे ही परमात्मा बहुत दूर चला जाता है

७- शांत सागर में जैसे चन्द्रबिम्ब स्पष्ट पड़ता है वैसे ही स्थिर एवं निर्विकल्प मन में परमात्मा का सहज दर्शन होता है।

८- मन की क्रियायें भी प्रयत्न पूर्वक होती है, जैसे आंख प्रयत्न पूर्वक चेष्टा करने से खुलती व बन्द होती है। यदि प्रयत्न

छोड़ दें तो आंख ढीली पड़ जायेगी एक मध्यम स्थिति को प्राप्त होगी। वैसे ही मन का प्रयत्न भी छोड़ दें तो मन शान्त होगा और विश्राम पायेगा।

९- सामायिक व ध्यानादि के समय कोई महावीर बुद्ध वा राम जपता रहे तो कभी परमात्मा को नहीं पा सकता। क्या किसी तोते ने राम राम जपने से रामत्व पाया है।

१०- राम वा बुद्ध अथवा अन्य कोई मन्त्रों का जप भी शब्दात्मक एवं विकल्पात्मक जल्प है जो बहुत दुखमय विकल्पों को भुला सा देता है परन्तु परमात्मा की अनुभूति से बहुत दूर है।

११- जिस प्रकार कोई रंक स्वयं को राजा कहे तो वह राजा राजा जपते राजा नहीं बनेगा, हां मन में भ्रान्ति से अपना मन अवश्य बहला सकता है। इसी प्रकार यदि कोई स्वयं को शुद्ध शुद्ध जपे तो इससे कभी भी वह शुद्ध बुद्ध नहीं बन सकेगा।

१२- स्वर्ण पाषाण में स्वर्ण है ऐसा जानकर कोई यदि उस को प्रक्रिया द्वारा शुद्ध करे तो सोना अवश्य प्राप्त कर सकता है, इसी प्रकार मुझ में भी परमात्मतत्व है ऐसा समझकर प्रक्रिया द्वारा अनुभव करे तो परमात्मा बन सकता है। अतः विचार ही कार्यकारी नहीं अपितु उपचार भी चाहिए।

१३- जब तक शरीर के स्नायु कसे रहते हैं तब तक शरीर को विश्राम नहीं मिलता, जब शरीर के स्नायु ढीले पड़ जाते हैं तब ही शरीर को विश्राम मिलता है और गहरी नींद आती है। परन्तु नींद में भी मन का विचारात्मक कार्य चलता रहता है, इसी कारण मन को नींद में भी विश्राम नहीं मिलता। जब मन भी ढीला पड़ता है तब वह भी विश्राम पाता है। और जब शरीर और मन सो जाते हैं तब आत्मा जागता है और

इन्द्रियों से भिन्न स्वयं की अनुभूति करता है, उस समय आत्मा का शरीर व मन से एक प्रकार से मानों सम्वन्ध छूट जाता है।

१४- नित्य सोने से हमारा वाह्य जगत से सम्वन्ध छूट जाता है परन्तु स्वाप्निक जगत में मन जागता है। गहरी नींद में जव स्वप्न दीखने भी वन्द हो जाते हैं ऐसी सुपुप्ति अवस्था में हमारा मन से भी सम्वन्ध छूट जाता है अथवा अव्यक्त मन रहता है। यद्यपि वह अवस्थापूर्ण निर्विकल्पात्मक है परन्तु तव आत्मा सचेत न रहने से स्वयं का अनुभव नहीं कर पाती अर्थात् आत्मा नहीं जागती होती है। यदि ऐसी स्थिति में आत्मा जागी हो तो वहीं ध्यान एवं आनन्द की स्थिति है, अथवा नींद भी ध्यान वन जाये। ऐसी स्थिति में शरीर वैठा अथवा लेटा हो, वह थक नहीं सकता।

१५- ऋषियों का शरीर सोता है परन्तु आत्मा जागती है अतः उनको सोने व जागने से कोई फर्क नहीं पड़ता।

१६- अज्ञानियों का सोते रहना ही श्रेष्ठ है क्योंकि वह जितने समय तक जागते हैं उतने ही समय तक जगत को नरकमय वनाने में ही उद्यमशील रहते हैं।

१७- ज्ञानियों के लिए सोना व जागना दोनों तुल्य हैं। परन्तु ज्ञानियों का शरीर जव तक जागता है तव तक पृथ्वी को स्वर्ग वनाने में ही तत्पर रहता है।

—:०:०:—

# भाव प्रधानता

१८ दिसम्बर १९७०

१- नित्य हम चाहते हैं क्रोध न हो, मालूम नहीं फिर क्रोध कौन करा देता है। मैं सोचती हूं किसी के प्रति विशेष स्नेह वा आकर्षण न हो तो भी लाख प्रयत्न करने पर भी स्नेह का भाव हो जाता है। बुद्धि निर्णय करती है कि हम यह भाव नहीं करेंगे तो भी वे भाव हो जाते हैं- जैसे सूर्य व चन्द्रमा रोकने पर भी प्रगट हो जाते हैं। तात्पर्य है निर्णय शब्दात्मक बुद्धि करती है परन्तु भाव हृदय प्रधान है।

२- जिस समय व्यक्ति द्वेष व शोक अथवा स्नेह आदि करता है उस समय उन भावों का कर्ता कर्म पृथक नहीं अपितु व्यक्ति स्वयं क्रोध होता है, मान होता है।

३- जब व्यक्ति स्वयं क्रोध बन गया तब उसको कौन रोके? क्योंकि रोकने वाला तो स्वयं वह भाव बन बैठा।

४- कभी कभी हृदय भाव करता है और बुद्धि कहती है हम नहीं करेंगे। उस समय भाव और विचारों का संघर्ष होता है मनुष्य का मन बड़ा विक्षिप्त होता है और वह एक महाभारत युद्ध का केन्द्र बन जाता है।

५- कदाचित बुद्धि विचारों द्वारा भाव को दबा देती है, भावनाओं व स्तुति पाठों की मार से वह भाव कुछ भूला सा या दबा सा हो जाता है। परन्तु विनष्ट नहीं होता, क्योंकि वे विचार उधार लिये हुए हैं स्वयं के नहीं हैं। वे केवल शब्द हैं भाव नहीं। वह उन शब्दों से ज्ञानी नहीं बना, अज्ञानी ही रहा इस लिये वह अज्ञान जनित भाव भी भीतर भीतर पनपता

रहता है समय पाकर फूटता है। ऐसी स्थिति में साधक भ्रांति में रहता है।

कदाचित बुद्धि द्वारा दबाया हुआ कषाय भाव ऊपर से मौन रहने पर भी भीतर ही सुलगता रहता है- कुछ ही समय पश्चात् ज्वालामुखी की तरह फूट पड़ता है। ऐसे समय के कषाय का भयंकर रूप सामान्य क्रोधी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक विकराल व प्रचण्ड होता है। तब व्यक्ति कहता है कि इतने समय तक मैं खून पिये चुप बैठा था, बोल अब मेरे सामने आ तू क्या कहता है मैं तुझे बताऊं। तब वह क्रोध की प्रचण्ड मूर्ति मरने मारने को तैयार हो जाती है।

क्रोध, मान, स्नेहादि भाव तो अवश्य आयेंगे और उनका पहले बुद्धि द्वारा कुछ वेग कम करना होगा। अर्थात् मौन पूर्वक कुछ विचारनायें लानी होंगी। फिर मन में आने वाले भावों का दर्शन करना होगा फिल्मवत् भाव आयेंगे और चले जायेंगे परन्तु दर्शक भिन्न खड़ा रहेगा। दर्शक कभी पर्दे पर नहीं आया करता। इस प्रकार वे कुछ अभ्यास से इन दूषित भावों से आत्मा स्वतन्त्र होगा।

मन की भावात्मक फिल्म का दृष्टा बाहर के व्यक्ति को तो देखता ही नहीं, इस लिए उससे तो पहले ही छूट गया और स्वयं का दृष्टा रहने के स्वयं के दुर्भावों से भी छूट गया।

जो व्यक्ति दिन में स्वयं के भावों के प्रति सजग रहता है वह रात्रि को नींद में भी जागता है। परन्तु जो जागते हुए भी सो रहा है, उसके सोते हुए जागने का तो प्रश्न ही नहीं।

—:०:०:—

# विभिन्न आकृतियां

१६ दिसम्बर १६७०

१- बाहर के जगत का भीतर भीतर के जगत से घनिष्ट सम्बन्ध है। व्यक्ति जागतिक पदार्थों को जैसे व जिसरूप में देखता है उसके भीतर भी कुछ वैसा वर्तन होना शुरू हो जाता है।

२- बाह्य जगत को देखने का ढंग बदल देने से भीतर का व्यक्ति भी बदलना शुरू हो जाता है।

३- जगत दो रूपों में है,एक तो विभिन्न आकृतियें व तदनुरूप नाम और दूसरा इनके पीछे वस्तु का स्वयं का रूप। आकृतियां बनती हैं और विनष्ट हो जाती है। परन्तु उसके पीछे सतह पर स्थिति वस्तु लहरों के पीछे स्थिति समुद्रवत सत् है।

४- यद्यपि आकृतियां भी उसी सत् की हैं पर बुद-बुद वत् उत्पन्न व विनष्ट होने वाली होने से 'असत्' हैं। आकृतियां अनेक हैं और वस्तु एक। विभिन्न आकृतियों को भेदरूप से जानने के लिए कुछ शब्द दे दिये जाते हैं जिसको 'नाम' कहा जाता है,इनकी कुछ काम चलाऊ एक व्यवहारिक उपयोगिता है। परन्तु वस्तु स्वभाव में वा आकृतियों में भी खोजें तो वा शब्द नाम की कोई चीज नहीं है। आकृतियां तो किंचितरूप से वस्तु में पाई भी जाती है परन्तु नाम का तो सर्वथा अभाव है।

५- ये आकृतियां स्वयं में बन व बिगड़ रही हैं। कोई कुछ क्षण तक ठहरती है और कोई कुछ अधिक क्षण तक। इस सन्दर्भ में कुछ क्षणों तक के लिए दूसरी आकृतियों से कुछ सम्बन्ध मेल मिलाप हो जाता है।

६- यह किसी को नहीं पता कि कौन आकृति कब विलीन हो जावे। परन्तु ये आकृतियें कोई आगे और कोई पीछे मिटेंगी अवश्य और साथ ही वह नाम भी।

७- अब जगत को देखने के दो ढंग हैं-या तो हम रूपों वा आकृतियों रूप सत को देखें या उसके पीछे छिपे वस्तु स्वभाव सत् को। जिसको अपना लक्ष्य बनायेंगे, वैसा ही भीतर में गहरे में बैठना शुरू हो जायेगा। रूपों को देखने से चंचलता होगी तथा निराशा होगी क्योंकि वे क्षणिक हैं, परन्तु सत् को अपने ज्ञान का विषय बनाने से स्थिरता मिलेगी।

८- जगत में अनेकों व्यक्ति मिलते हैं वस्तुयें व ऐश्वर्य मिलता है बल-रूप व सम्मान मिलता है परन्तु सब क्षणिक। क्षणिक सम्बन्धों को प्राप्त करके मनुष्य भूल जाता है कि ये क्षण-स्थायी है इसी से अहंकार का जन्म हो जाता है जो क्षण में संयोगके विनाशके साथ धराशायी होकर दुख व खेद को छोड़ जाता है

९- जिस प्रकार आकाश के बादल व जल का बुद-बुदा यदि पकड़ना हो तो क्या सम्भव होगा।

१०- जो सद्भाव के पीछे अभाव व अभाव के पीछे सद्भाव को देखता है तो उसके जीवन में एक क्रान्ति आनी शुरु हो जाती है और शान्ति का प्रवेश द्वार खुल जाता है।

११- प्राप्ति के पीछे अप्राप्ति नियम से आयेगी, ऐसा समझने वालों को अहंकार जनित कठोरता कभी न होगी। इसी प्रकार अप्राप्ति के पश्चात प्राप्ति भी नियम से आवेगी, ऐसा समझने वाले को अधैर्य व निराशा कभी न होगी।

१२- इस प्रकार के विचारों से बाहर के जगत में वा जागतिक पुरुषार्थ में कोई अन्तर न होगा लेकिन भीतर का व्यक्ति पूरा बदल जायेगा।

१३- इस प्रकार जगतकी अनित्यताकी बातों को हम पढ़ व रट लेते

# मृत्यु के उस पार

२० दिसम्बर १९७०

१- प्रत्येक व्यक्ति मौत से डरता है परन्तु मौत सब को आ रही है वह टलती नहीं।

२- मौत स्वयं ही व्यक्ति को उसके मृत्यु स्थान पर पहुंचा देती है। लाख प्रयत्न करने पर भी मनुष्य का वह समय टलता नहीं, मनुष्य स्वयं ही मौत के निर्दिष्ट स्थान पर पहुंच जाता है।

३- गरीब या अमीर, बालक या वृद्ध सब बराबर मृत्यु की ओर बढ़े चले जा रहे हैं। क्या चक्रवर्ती, क्या इन्द्र, धरणेन्द्र भी मौत का क्षण टाल न सके। तीर्थंकर भी महा प्रयाण का क्षण टाल नहीं सके। पूर्ण सामर्थ्य होने पर भी महावीर भगवान को मौत के वशीभूत होकर अमावस्या की अन्धेरी रात्रि में ही मोक्ष जाना पड़ा।

४- जिस चीज से व्यक्ति डरा करता है और जिससे सुरक्षा किया करता है वह उतनी ही डराया करती है।

५- सुरक्षा के साधन महल, मकान, मन्त्र, तंत्र आदि कोई भी नहीं बचा सकता है। मौत तो सौ तालों में से, पैक किये शीशों के डब्बों में से भी सहज निकाल कर ले जाती है।

६- मौत से डरना नहीं है, अपितु उससे मित्रता गांठनी है।

७- मौत वह मित्र है, जो पुराने घर से उठा कर नया मकान देता है, नया वस्त्र देता है नया रथ देता है, जिस पर बैठ कर सहज ही परमात्मा के मन्दिर में पहुंचा जायेगा।

१५- जब मौत आयेगी तो सुरक्षा के साधन यहीं पड़े रह जायेंगे और वह परम हंस निकल कर चला जायेगा ।

१६- जब मरना ही है तो वीरता से व प्रसन्नता से क्यों न मरें ? चारपाई पर पड़ कर वा भय खा कर कुत्तों की मौत मरना क्या अच्छा है ? कायरों की मौत मरने में क्या शोभा है ।

१७- जो सुरक्षा चाहता है वह कायर होता है, जो डाक्टरों के आगे गिडगिडाता है वह भीरु है वह कभी स्वतंत्र व निर्भिक नहीं हो सकता । मौत को, असुरक्षा को ललकार कर ही शेर जंगल का राजा बनता है अतः मौत को व असुरक्षा को लल-कार कर ही मनुष्य मौत का शासन व स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है ।

१८- जो मृत्यु को ललकारता है व उसका स्वरुप पहिचानता है उसके लिये मृत्यु एक खेल है ।

१९- मौत से निर्भय वह हो सकता है जो हर क्षण को मौत से सजग हो जो निरन्तर मौत के लिये तैय्यार रहता हो जो अपने विचारों व कषायों के प्रति सजग हो वही मौत को एक यात्रा समझता है नये देश की ।

२०- जिसके भीतर का व्यक्ति जाग गया है उसके लिये मौत एक स्थान व रुप वा वस्त्र परिवर्तन है । क्योंकि उसके भीतर के व्यक्ति की मौत नहीं होती ।

२१- जागा हुआ वह चिद्पुरुष सम्भाल कर हंसते हंसते नये जीवन की यात्रा पर जाता है । परन्तु बेहोश आदमी घर से अस्पताल में पहुंच जाने पर नया पन देखकर घबरा जाता है

२२- जागा हुआ पुरुष अपना सब कुछ सम्भाल कर मार्ग का

कलेवा भी साथ ले जाता है, परन्तु सोये हुए को स्वयं की ही होश नहीं होती।

२३- जो जीवन में हर क्षण कषाय व मन के प्रति जागा है वही मृत्यु के प्रति जागेगा।

२४- मन के विचारों का व वृत्तियों का दर्शन करना है विचार नहीं। "मेरे मन में क्या है" यह विचार नहीं करना है क्योंकि विचार करते ही हम स्वयं विचार बन बैठेंगे, कषाय बन बैठेंगे। द्रष्टा न रह पायेंगे, विचार से पृथक न रह पायेंगे त्यों ही अशान्ति होनी शुरु हो जायेगी। परन्तु यदि अच्छा व बुरा जो कुछ भी हो बिना किसी निर्णय के द्रष्टा बने रहेंगे तो जो भीतर सोया है वह जाग जायेगा, जीवन में क्रान्ति होनी शुरु हो जायेगी, शान्ति व प्रकाश का प्रवेश होगा।

२५- मन के विचारों को न रोकना है न निर्णय करना है अपितु मात्र देखना है। न विचारों रुपों के प्रति कोई शब्द दे और आकार ही बनाये केवल देखें, मात्र देखें।

२६- देखने वाला द्रष्टा बनता है और शब्दातीत निर्विकल्प स्थिति को पाता है, और विचारने वाला शब्दों व कषायों में फंस जाता है।

—:o:o:—

७- जीवन मरण की सुख दुख की सम्पूर्ण घटनाओं को जोड़ने वाला उसकी गन्धि में कौन है उसको जाने वही सत्य है परमात्मा है।

८- जिस के साथ यह सम्पूर्ण घटनायें घट रही हैं वह कौन है ? वही तो सागर है। एक बार हम सागर बनकर अपने ऊपर घटती इन घटनाओंको देखें तो घटनाएं हमारे लिए एक खिलवाड बन जायेंगी।

९- घटनाओं के नीचे होने वाले परमात्मा के मधुर संगीत को इनकी कलकलाहट मेंसुन ही नहीं पा रहे हैं।

१०- विद्याचन्द्र जी नाटक को देखने में इतने तन्मय हुए कि किसी पर स्त्री पर बलात्कार का अभिनय करते हुए अभिनायक को अपना जूता निकाल कर मारने को दौड़े, इस प्रकार स्वयं दुख से भर कर नाटक का पात्र बन बैठे। इसी प्रकार जो जगत का नाटक देखने में ऐसा तल्लीन हो जाता है कि दर्शक पना छोड़ पात्र बन जाता है तो वह दुखों से भर कर चतुर्गति में भ्रमण करता है।

११- मैं उस घटना से वा नाटक से ऊपर उठने की बात कहती हूं. दुख के सागर से निकल कर जीवन का सच्चा आनन्द भोगने की बात सोचती हूं। आज मेरे हृदय में एक तीव्र उत्कण्ठा, एक प्यास वा वेदना जागृत हुई है उस मूल सूत्र को पाने की। घटनाओं को गूंथने (पिरोने) वाले डोरे की खोज करने की यद्यपि यह तथ्य दृष्टि में बैठा है परन्तु केवल विचारात्मक मननरूप। वही दृष्टि में सबको दे रही हूं शायद कोई उस सूक्ष्म सूत्र को पाले तो मेरा कल्याण हो वा न हो फिर भी मैं अपने को धन्य भाग समझूंगी।

१२- हम जीवन के उस चौराहे पर खड़े हैं जहां से सब दिशाओं

के मार्ग खुले हैं। चाहे तो हम प्रकाश की ओर जायें वा अन्धकार के गर्त में।

१३- एक जगत आंख के बाहर है और एक मन के भीतर। हम मन के भीतर के जगत का निरीक्षण करें। उसमें क्या अच्छा क्या बुरा, इस प्रकार का कोई निर्णय न दे।

१४- ध्यान ही एक उपाय है जिससे हम उस सूत्र को पाते है जो सब घटनाओं को जोडता है। ध्यान के द्वारा ही चेतना के अनन्त सागर में अवगाहन कर हम चिर विश्रान्ति पा सकते हैं।

१५- ध्यान से तात्पर्य मन का निरोध नहीं अपितु मन के नाटक का दर्शन देखने के लिये जानने के लिये अच्छा बुरा कुछ नहीं होता परन्तु प्रिय को लाना चाहते हैं और अप्रिय को हटाना। इस प्रयास से प्रिय वस्तुतीं मन में रुक नहीं पाती परन्तु अप्रिय प्राणों में गहरे उतरती जाती है। जैसे ही फिर हम भीतर देखते हैं तो अप्रिय वस्तुओं के ढ़ेर वा झुंड भागते दिखाई देते हैं तैसे ही हम ध्यान से भागते हैं, ऊब जाते हैं हतोत्साह हो जाते हैं डरते हैं और भीड में भागते हैं।

१६- मन में कुछ भी हो अच्छा वा बुरा उसको आने देना है परन्तु सजग होकर देखते रहना है।

१७- स्थिर, कोमल आसन पर, सुखासन, पद्मासन किसी भी अनुकूल आसन से बैठकर सोने से पूर्व व उठने के पश्चात नीरव स्थान पर शरीर को ढीला करके बैठना है आंखों की पलकें व आंख विलकुल ढीली हों, वस मौन पूर्वक मन का निरीक्षण करो। ध्यान रहे नींद न आवे। क्योंकि शरीर व मन जैसे ही ढीला होता है नींद आने लगती है। अतः सजगता रखनी है जैसे मन शान्त होगा तैसे स्वांस गहरी आयेगी और शान्ति का अनुभव होगा। १५ मिन्ट का अभ्यास २४ घन्टों को ध्यान मय वना देता है।

# विचार समाप्ति

२९ दिसम्बर १९७०

१- मन कभी शान्त नहीं हुआ करता, मन मरता है। क्योंकि मन का लक्षण ही संकल्प विकल्प है, यदि विकल्प शान्त होगया तो समझो मन मर गया।

२- हम रोज ध्यान के लिये बैठते हैं परन्तु मन टिकता नहीं यह शिकायत अर्थात मन को टिकाने का प्रयास ही वास्तव में मन को मरने नहीं देना।

३- नदी में तैर कर किनारे तक ही पहुंच सकते हैं सागर में नहीं। इसी प्रकार मन को रोकने का प्रयास करने से कुछ ही विकल्प कम करने में कदाचित सफल हो सकते हैं परन्तु मन की मृत्यु पूर्वक सागर नहीं बन सकते, परमात्मा नहीं बन सकते।

४- नदी में बहने वाला डूबता नहीं अपितु जल के ऊपर ही पत्तवत बह कर सागर में पहुंच जाता है, इसी मन विचारों में बह कर सागर में परमात्मा में मिल जाता है।

५- आत्मा,परमात्मा, ईश्वर ब्रह्म ये सब कोई द्वैत रूप वस्तुयें वा व्यक्ति नहीं हैं जो हम इन का ध्यान कर लें। जो कोई इनको किन्हीं रूपों व आकृतियों रूप देखने का अभ्यास करता है, केवल स्वयं की कल्पित मूर्तियों का आधार ही मन में साध सकता है, परमात्मा का दर्शन नहीं।

६- ध्यान करना नहीं है अपितु सर्व प्रयत्न छोडकर भाव में होना है। करना नहीं है,होना है।

७ जो व्यक्ति जिन मूर्तियों का ध्यान करता है उसको वे मूर्तियां ही दिखाई देने लगती हैं दूसरी नहीं, क्योंकि वे उसके मनोमय कोष में गहरी बैठ जाती है अभ्यास द्वारा ।

८- अभ्याससे साधी हुई आकृतियोंके स्वप्नवा जागृत में साकार दीखने पर साधक समझता है कि भगवान के दर्शन हुए हैं। कितनी विचित्र बात है? भैय्या! परमात्मा आकृति रूप नहीं, अनुभूतिरूप है ।

९- रूप व आकृतियां सब मनो जनित विकल्प हैं, परमात्माके रूप नहीं। इन आकृतियों-रूपों व शब्दों का ध्यान करते ही हम स्वयं से व परमात्मा से दूर हो जाते हैं।

१०- क्या आत्मा ज्ञेय रूप है जिसको हम देख लें? आत्मा को ज्ञेय बनाते ही वह मन जनित जड वस्तु बन बैठती है। हम से दूसरी वस्तु बन जाती है, हमारा स्वयंका अस्तित्व नहीं।

११- जिस दिन ज्ञेय का विकल्प समाप्त हो जायेगा, उस समय केवल ज्ञान शेष रह जायेगा, उसे ही आत्मा, परमात्मा किन्हीं भी शब्दों में पुकारो एक ही बात है।

१२- 'ज्ञान मात्र' होना ही परमात्मा व आत्मा है।

१३- ईश्वर को देखा नहीं जा सकता। हां ईश्वर बना अवश्य जा सकता है ईश्वरत्व में हुआ अवश्य जा सकता है।

१४- विचार के बहाव का मात्र करते-करते एक दिन विचार समाप्त हो जाते हैं, जीवन का एक सत्य प्रगट हो जाता है। बूंद एक सागर बन जाती है।

१५- परन्तु हम विचारों व भावों को समझते हैं कि 'मुझे भाव हुए', क्या मैं और भाव अलग हैं? परन्तु उसको ऐसे ही अलग कर देते हैं जैसे बिजली और चमकना। क्या चमकना बिजली

[illegible] है ? [illegible] है, इसी प्रकार आत्मा [illegible] को माना है। परन्तु मैं और मेरे मन में इस आत्मा को ढूंढ़ [illegible] है मात्र [illegible] जाता है। यदि हम भीतर खोजें तो अनुभव या भावनाओं की [illegible] परन्तु मैं नाम की कोई चीज न मिलेगी। अर्थात् [illegible] अनुभूति [illegible] क्रिया तो होगी परन्तु 'मेरी आत्मा या मेरी अनुभूति' नाम की कोई चीज न मिलेगी।

१६- बाहर के जगत में पदार्थ के शक्ति के कण तेजी से घूम रहे हैं और भीतर में अनुभव के अथवा चित्कण। अति निकटता या सघनता के गमन के कारण हम बाहर के शक्तिकणों को पंखे की पंखुड़ियों की भान्ति जड़ पदार्थ या विभिन्न वस्तुओं का नाम दे देते हैं। और भीतर के चित्कणों को हम 'मैं' या 'मेरा' नाम देते हैं।

१७- मैं का नाद हमारे साथ इतना घनीभूत हो गया है कि हम प्रत्येक क्रिया के साथ उसको लगाना नहीं चूकते। बस यही अहंकार हमें अद्वैत से द्वैत में ले आता है।

१८- वैज्ञानिक लोग तो पदार्थ से शक्तिकणों पर पहुंच गये, परन्तु अध्यात्मिक लोग आत्माणु या चिद गुणपर नहीं।

१९- वैज्ञानिक नई बात सीखना चाहता है और धर्मी नहीं। धर्मी पुरानी शब्दात्मक रूढ़ियों पर ही चलता रहता है।

२०- जब प्राणों में तीव्र पिपासा जागृत होती है-'चाहे प्राण जायें मुझे सत्यकी उपलब्धि अवश्य करनी है' जब पूरे प्राण तड़प उठते हैं तभी ध्यान की प्रक्रिया प्रारम्भ हो सकेगी अन्यथा आलस्य या निद्रा घेर लेगी।

२१- एक सिक्के के दो पहलू होते हैं एक पहलू को ही पकड़ने वाला कभी सिक्के को नहीं पा सकता। जहां जीवन है वहीं मृत्यु भी। जो जीवन को जानेगा वही मृत्यु को भी और जो मृत्यु को जानेगा वही जीवन को भी। केवल जीवन वा केवल मृत्यु को जानने वाला झूठा है इस लिए दोनों को विरोध में खडा कर देना चाहिए ताकि वह सत्य के सिक्के को पा ले। अर्थात् मृत्यु को जानने वाले को जीवन की कला और जीवन को जानने वाले को मृत्यु की कला सिखायी जानी चाहिए। ताकि उसके सारे प्राण आन्दोलित हो जायें।

२२- वाहर की भाषा वा विवेचन शैली का आ जाना और वात है यह शब्द की जडात्मक क्रिया है, इससे कोई लाभ नहीं जब तक जीवन रूप न बन जाये।

२३- मैं स्वयं दूसरों को कहती हूं परन्तु जब स्वयं के भीतर जाकर देखती हूं तो पाती हूं कि मैं उस सत्य से वहुत दूर हूं।

२४- लोग मुझे न मालूम किस महान रूप में देखते हैं, इस से मुझे स्वयं के प्रति वडी ग्लानि होती है, क्योंकि जो मेरा रूप वाहर का है वह अर्थात् भीतर का नहीं है। अन्दर में तो बड़ा उलटा ही दिखाई देता है तब मुझे यह सारा खेल माया पूर्ण व स्वांग मात्र दिखाई देता है।

२५- मेरे हृदय में कोमलता व सरलता होनी चाहिए, सबके प्रति वहुमान व निरहंकारता होनी चाहिए। न मालूम यह हृदय कठोर क्यों होता जाता है।

२६- वाल पन में जो सरलता व विनयशीलता तथा गुरुजनों अर्थात् बड़ों के प्रति वहुमान होता था, उसमें परिवर्तन क्यों? इसी भाव से मुझे किसी ऊंचे आसन पर बैठते लज्जा आती है।

२७- गृहस्थों की अतुल सेवायें व वलिदान लेकर भी जो साधक स्व वा पर कल्याण न करे वह राष्ट्र पिण्ड को व्यर्थ खाता है। वह पृथ्वी का भार है।

# कौन सुखी

३० दिसम्बर १९७०

१- संसार में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं जिसको किसी न किसी प्रकार का दुख न हो- केवल विवेक- वैराग्यसम्पन्न व्यक्ति ही इस संसार में सुखिया है।

२- चित्त ही सब पापों का मूल है, जो व्यक्ति चित्त के मलों से निर्मुक्त हो जाता है-वह इस जगह में निर्मूल वायुवत विचरण करते हैं।

३- हमारा मन हर क्षण तारों में करन्टवत् कषायों से भरा हुआ है, जैसे बटन दबाते ही बिजली प्रगट हो जाती है वैसे ही निमित्त पाते ही कषाय प्रगट हो जाती है।

४- कषाय अगले भव में या कल विनष्ट कर देंगे, ऐसा विचार मूढ़ता पूर्ण है क्योंकि कल को तो वह कषाय एक दिन और यात्रा कर लेने के कारण हमारे प्राणों में और गहरी हो जायेगी।

—:०:०:—

अपनी ओर

# सत्य दृष्टा

३१ दिसम्बर १९७०

१- संसार में यह जीव अकेला जन्म लेता है अकेला ही जरा-जीर्ण होकर मरता है, अकेला ही स्वकृत शुभ-अशुभ कर्म का फल सुख व दुख को भोगता है।

२- दूसरा व्यक्ति किसी के सुख व दुख हों तो बंटवा ही नहीं सकता, धन को भी कोई बटवा नहीं सकता। क्योंकि पुण्य के उदय से छीना हुआ धन भी मिल जाता है तथा पाप के उदय से मिला हुआ धन भी चोर ले जाते हैं।

३- वाह्य शरीर के साथ ही नाते-रिश्ते, धन-सम्पत्ति, नाम-रूप व मैं रूप अहंकार आदि जन्म पाते हैं और शरीर के साथ ही इन सबकी समाप्ति हो जाती है- अतः ये सब हम स्वयं नहीं, सत्य वा आत्मा नहीं है।

४- वह सत्य वाह्य पदार्थ व शरीरादि से भिन्न अन्तरंग में राग-द्वेषादि कषायों से व्यतिरिक्त तथा बुद्धि जनित विकल्पों से भी अतिरिक्त है।

५- वाह्य पदार्थों से हटकर जब हम भीतर में झांकते हैं तो हृदय गत् राग-द्वेष, क्रोध, घृणा आदि से भयभीत हो भीड़ में भागते हैं। मन बहलाने को शोरो-गुल में जाते हैं इससे हमारे भीतर की खाद दुर्गन्धयुक्त हो जाती है, सड़ जाती है, उससे अशान्ति ही होती है।

६- चौबीसों घण्टे हम क्रोध से भरे हैं जरा सा निमित्त मिलते ही भीतर का मल बाहर प्रगट हो जाता है।

७- [illegible]

८- [illegible]

९- [illegible] शान्ति व परमात्मा की अनुभूति हो जायेगी ।

१०- जब हमें सत्य का साक्षात्कार दर्शन हो जाता है तब अविचार में ही सहज रूप से हमारे पाप उससे छूट जाते हैं। इसी प्रकार जिस क्षण हमारा मन सत्य का साक्षात्कार कर पायेगा, उसी क्षण दुष्कर्मों व अज्ञान जनित क्रियाओं से सहज ही छूट जायेंगे ।

११- अभी हमें सत्य का दर्शन नहीं, केवल सुने हुए विचारात्मक तथ्य है जो कि हमारे मन में बैठे हैं वे भी केवल शास्त्र सभा व गोष्ठियों की चर्चा तक सीमित हैं हमारे जीवन में नहीं है। जिस क्षण सत्य की अनुभूति होगी उसी क्षण हमें स्वयं को एकरूप होने से अनेकत्व से सहज ही कब हमारे कदम छूट जायेंगे इसका हमें विचार व ज्ञान भी न होगा ।

१२- सत्य द्रष्टा को विचारने का अवकाश नहीं कि मैं इन असत्य व दुष्कर्मों से बचूं वरन् उसके चरण स्वयं वहां से बचकर पड़ते हैं जैसे पथिक के चरण कांटों से स्वयं बचकर चलते हैं

१३- जब तक बालक बुद्धि पूर्वक विचार कर कदम रखता है समझना चाहिए कि बालक अभी चलना नहीं सीखा है, इसी प्रकार मनुष्य विचार कर बुद्धि से कर्म-अकर्म का निर्णय कर रहा हो तो समझो अभी वह सत्य द्रष्टा नहीं है ।

४- सत्य के दर्शनार्थ स्वयं के भीतर देखो और देखो साहसंपूर्वक निरन्तर देखो बस केवल देखो। अच्छे, बुरे विचार की तो बात ही नहीं, अमुक विचार, अमुक विकल्प, इस प्रकार का बुद्धि जनित विकल्प भी मत करो क्योंकि यह भी सब शब्द हैं द्वैत रूप हैं। इस प्रकार हमारे कानों में आवाजें आयेंगी परन्तु हमें यह पता न पड़ेगा कि किस की आवाज है। तब मन शान्त हो जायेगा।

५- आवाज को जानना तो ज्ञान का स्वभाव है, परन्तु यह अमुक की है और अमुक बात है यह सम्पूर्ण विकल्प मन करता है। जैसे ही हम विकल्प करते हैं तैसे ही हम स्वयं से दूर वह विकल्प ही बन बैठते हैं और हमारे भीतर एक अशान्ति आनी शुरु हो जाती है।

१६- यदि हम तटस्थ भाव से केवल सुने इससे हमारी समझ में कुछ न आयेगा तभी हम उन विचारों व विषयों से मुक्त शांत रह सकेंगे। तब मन का कार्य समाप्त हुआ होने से हम स्वयं को जागृत पायेंगे। हमारे जीवन में एक शान्ति प्रवाहित होनी शुरु हो जायेगी। यह वह गुप्त रहस्य है, गुरु विद्या है।

१७- ऐसे तटस्थ योगी चाहे जंगल में रहें चाहे बस्ती में, उनके लिए सब बराबर है, क्योंकि उनका मन विलीन हो चुका है। अतः वह शान्त प्रसन्न रहते हैं।

१८- उपदेश देना आना कोई बड़ी बात नहीं है यह भी एक कला है जैसे लोक की अन्य कलायें। उपदेश की कला का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है।

१९- धर्म का सम्बन्ध तो जीवन से है, उपदेश देने की कला से नहीं है। सत्य को पाना, उसकी प्रवृत्ति में और चेतन के प्राणों

से एकमेक कर देना और सत्य की साक्षात् प्रतिमा बन जाना दूसरी बात है।

२०- भोजन की चर्चा से पेट नहीं भरता ऐसे ही वक्तृत्व कला अथवा धर्म चर्चा मात्र से शान्ति व सत्य की अनुभूति नहीं होती।

२१- सत्य को जितना कहना सरल है, उतनी ही सरल उसकी अनुभूति नहीं। जीवन में सत्य का दर्शन व अनुकरण उतना ही कठिन है।

२२- मैं सोचती हूं कि जो उक्ति ऋषियों ने कही है कि 'मिथ्या दृष्टि के उपदेश से दूसरे पार हो जाते हैं और वह स्वयं रह जाता है' यह मुझ पर चरितार्थ होती है। जिस सत्य तत्व की व्याख्या मेरे विचारों में व मेरी दृष्टि में भासित होती है उसको सुनकर किसी की चिर निन्द्रा भंग हो जाये तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूंगी।

२३- सत्य की उपलब्धि तो आनन्दमय है ही, परन्तु उसकी प्यास व प्रतीक्षा भी शान्तिदायक होती है। बालक ध्रुव ने भगवान का विरह ही मांगा था।

२४- सत्य प्राप्ति की हमारे पूरे प्राणों में प्यास हो तो चौबीसों घण्टे प्रयास रहता है तब कभी तो अनादि की नींद भंग हो जायेगी ही।

२५- जिस व्यक्ति की अनादि सुषुप्ति भंग हो जाती है उसके सम्पूर्ण मन्त्र क्षीण हो जाते हैं। ऐसा व्यक्ति देव, यक्ष, मानव से ऊपर हो जाता है। जैसा कि बुद्धने कहा था।

—०:०:—

# नव-वर्ष

जीवन में प्रभु तुम्हें नयी रोशनी

प्रदान करे

# मन की मृत्यु

१ जनवरी १९७१

१- रात के पश्चात् दिन आता है और दिन के पश्चात् रात्रि। और इस प्रकार वर्ष के पश्चात्-पश्चात् आते हैं और जाते हैं। काल का प्रवाह नदी के तीव्र वेग की भांति प्रवाहित है प्रकृति के अनिवार्य नियमानुसार मनुष्य के जीवन का प्रवाह भी गतिशील है। जीवन भी ठहर नहीं सकता।

२- वृक्ष मरता है तो बीज बनता है और बीज मर कर ही वृक्ष बनता है। मनुष्य भी बीज है वह भी मरता है तो वृक्ष बनता है और वह वृक्ष अर्हत् बनता है।

३- जब तक बीज मरता नहीं तो वृक्ष नहीं बन सकता, इसी प्रकार जब तक व्यक्ति मरता नहीं तब तक वह भी अर्हत नहीं बन सकता।

४- जब व्यक्ति दिन में विचारों व कषायों के अतिरेक से भर जाता है, दब जाता है तब रात्रि को शयन करके निन्द्रा में एक प्रकार से मर जाता है। तत्पश्चात ही सवेरे को वह नया जीवन, नयी ताजगी, नया रस पाता है। यदि वह रात्रि को शयन न करे तो उसका जीवन ही न रह जाये।

५- वर्ष नया आ गया परन्तु क्या हम भी नये बने हैं ? जरा खोजें, देखें। हमारे भीतर तो मन के ऊपर अतीत के बोझ अतीत की वैर वैमनस्य की स्मृतियों की धूल जमी है। भीतर में सब मुर्दा है, अन्दर में दुर्गन्ध है, सब कचरा है, सड़ा पड़ा है, सब पुराना है, फिर हम नये नहीं बने हम तो सदियों पुराने हैं।

६- हमारे मस्तिष्क में सब पुराने विचार, पुराने विश्वास, वज्र-लेपवत् जमे हैं, हम वही पुराने हैं, युगों, वर्षों पूर्व के। तब हमारे लिए नवीनता क्या ?

७- मनुष्य की नवीनता तब है जब वह भूत के प्रतीत, अतीत के प्रति मर जाये, पुराने वैरों को बीते हुए विचारों को मस्तिष्क में धो डालो और जीवन को नया पन दें। बाहर के वस्त्र नये पहन लेने से भीतर की दुर्गन्ध नहीं जाती है। काले रंग पर उजला रंग कभी किसने चढ़ता देखा है। विष्टा के घड़े को ऊपर से अलंकृत कर देने से भीतर की दुर्गन्ध जाती है क्या ?

८- मनुष्य के भीतर सब पुरानी कीचड़ की दुर्गन्ध है। सब चीजें साफ हो जाती हैं परन्तु मनुष्य का मन नहीं। यदि मन का पुराना पन वा दुर्गन्ध निकल जाये तो मनुष्य मर जाये और परमात्मा बन जाये। वही मनुष्य का नयापन होगा। वही उसका नया वर्ष वा नया जीवन होगा।

९- 'मनन करे सो मनुष्य' होता है। जब मन मर जाता है तो मनन समाप्त हो जाता है, तब व्यक्ति फिर मनुष्य नहीं रह जाता वह परमात्मा वा ब्रह्म बन जाता है।

१०- व्यक्ति जैसा बाहर में होता है वैसा भीतर में नहीं होता। भीतर में बिल्कुल उल्टा ही होता है। बाहर में सच्चरित्र हो तो भीतर में कुछ और ही होता है।

११- भक्त ग्रहस्थ जन केवल बाहर का आचरण देखकर मेरे प्रति श्रद्धा से नत मस्तक होते हैं। वे भीतर को नहीं देखते। भीतर में कुछ भी तथ्य नहीं है। मैं जब भीतर में झांकती हूं तो मुझे बाहर का सब स्वांग ही लगता है।

नहीं। [illegible] है [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] है। [illegible] आत्मा और प्रकाश पूर्ण सत्य की अनुभूति होगी।

२२- जैसे जैसे मन की मृत्यु होनी शुरू होगी तो हमारे कानों में शब्द पड़ेंगे परन्तु हमें समझ न आयेंगे, वे हमें सुनाई देंगे, परन्तु यह पता न लगेगा "क्या शब्द कहा किस का था" क्योंकि वह विकल्प या निर्णय मन का था और मन अब मर चुका है। इसी प्रकार रूपादि समस्त इन्द्रिय विषयों के विषय में जानना।

२३- बालक जिस प्रकार पदार्थों को देखता है परन्तु वह निर्णय व निर्णय न देने के कारण वह उनके विकल्पात्मक नाम रूपों से अस्पष्ट रहता है। इसी प्रकार जब मन के विचारों को हम देखें परन्तु निर्णय व निर्णय न दें तो रूप व शब्द समाप्त हो जायेंगे तब जीवन में सत्य घटना घटनी शुरू हो जायेगी। भीतर का पुरुष जाग जायेगा। इसमें कोई कठिन तपस्या की बात नहीं मन के प्रति सजग होने की सहज व सरल साधना है।

--:०:०--

# देह का संगीत

२ जनवरी १९७१

१- जिस प्रकार वीणा के तार अधिक कसे हों अथवा अधिक ढीले हों तो वीणा में से संगीत नहीं निकलता, इसी प्रकार शरीर रूपी वीणा के प्रति मन के तार यदि कसे (त्याग-तपस्या से) हों अथवा अधिक ढीले (भोग विलास में निरत रहने से) हों तो जीवन में संगीत नहीं निकल सकता है।

२- जब मन शरीर के प्रति अधिक कठोर न होकर और न ही अधिक ममत्वपूर्ण होकर वर्तता है और साधना द्वारा जीवन में से संगीत निकाल लेता है।

३- वीणा एक अलग पदार्थ है और संगीत एक और ही रहस्य है ऐसे ही शरीर एक और पदार्थ है और आत्मा का संगीत एक भिन्न ही तथ्य है।

४- जो व्यक्ति वीणा के प्रति अधिक मोही हो जाते हैं उससे संगीत नहीं निकलते अपितु उसको सीने ही से लगाये फिरते हैं, उनको उससे क्या लाभ ? इसी प्रकार जो शरीर रूप वीणा को सीने से लगाये फिरते हैं उनको इससे क्या लाभ ?

५- वीणा को भीतर से खोलकर देखो तो कुछ न मिलेगा, इसी प्रकार शरीर को भीतर से खोलकर देखो तो दुर्गन्ध के अतिरिक्त कुछ न मिलेगा।

६- अशुचि भावना से तात्पर्य शरीर के प्रति क्रूरता व घृणा नहीं अपितु इस भावना द्वारा देह के प्रति का ममत्व त्याग करके उससे संगीत निकालने का अभिप्राय है।

इसके पश्चात् उसी पदार्थ के विषय में विशेष प्रयत्न होता है- जैसे वृक्ष है या ठूठ। ऐसी स्थिति को संशय कहते हैं ! 'लगता तो व्यक्ति है' 'देखूं क्या है' किसी एक तरफ झुके और जानने की इच्छा वाले ज्ञान को 'ईहा' कहते हैं।

'यह मनुष्य ही है' ऐसे निर्णय वा स्पष्ट ज्ञान को 'अवाय' कहते हैं।

इसके पश्चात् यह आभास मन पर अंकित हो जावे जो फिर स्मरण हो सके उसको 'धारणा' कहते हैं। कालान्तर उस आभास का स्मरण हो जाना 'स्मृति' कहलाता है।

प्रत्यक्ष फिर उसी व्यक्ति को देखकर यह स्मरण हो जाना कि 'यह वही व्यक्ति है जिसको कल देखा था' ऐसे प्रत्यक्ष और स्मृति के जोड़ रूप ज्ञान को 'प्रत्यभिज्ञान' वा 'संज्ञा' कहते हैं पुन: पुन: धुयें के साथ अग्नि को देख कर यह निश्चय हो जाना कि 'जहां जहां धुआं होता है वहां वहां अग्नि होती है' ऐसे ज्ञान को 'तर्क' वा 'चिन्ता' कहते हैं। कालान्तर में धुआं देख कर अग्नि का ज्ञान हो जाना अभिनिबोध कहलाता है।

यहां तक के सभी ज्ञान 'मतिज्ञान' के ही विकल्प हैं यह सब शब्दात्मक नहीं हैं।

इसके पश्चात् पदार्थ का ज्ञान होते ही उससे विशेष प्रवृत्ति होना जैसे अग्नि का स्पर्श होते ही चींटी वहां से हट जाती है। ऐसी ज्ञान की वृत्ति को श्रुत ज्ञान कहते हैं। ऐसा श्रुत सभी असंज्ञी जीवों को भी होता है।

इसके अतिरिक्त जाने हुए पदार्थ के विषय में विशेष तर्क वितर्क करना और उन पदार्थों को कोई शब्द विशेष प्रदान कर देना। तब उस शब्द पर से पदार्थ का ज्ञान होना यह 'शब्दात्मक श्रुत ज्ञान' है।

जाने हुए पदार्थ से पृथक पदार्थों पर शब्दों द्वारा संकल्प-विकल्प करते हुए कहीं से कहीं जाने वाली वृत्ति 'संकल्प विकल्पात्मक' श्रुत ज्ञान कहलाती है। ये दोनों ज्ञान मन सहित जीवों के ही होते हैं। इसके आगे मन: पर्यय व अवधिज्ञान दोनों योगज ज्ञान हैं जो चित्त की विशुद्धि से हुआ करते हैं।

५- दर्शन रूप वृत्ति अन्तर में स्पर्श करके आती प्रतीत होती है इसलिये इसको 'अन्तर्मुखी' कहते हैं इस वृत्ति का कोई आकार विशेष, तथा कोई रंग विशेष नहीं होता, अत: यह वृत्ति 'निराकार' तथा 'निर्विशेष' कही जाती है। उपयोग उस दशा में कोई शब्दात्मक विकल्प नहीं होते हैं- अत: यह निर्विकल्प होती है। इसलिए वह उपरोक्त चार विशेषणों वाली कही जाती है।

परन्तु जैसे ही वृत्ति पदार्थों के प्रति दौड़ती है तैसे ही वह 'वहिमुखी' हो जाती है। विषय की निकटता से सर्व प्रथम आकार भासित होने से वह 'साकार' कही जाती है।

इस आकार प्रकारों से पदार्थों की सीमायें तथा एक दूसरे से पृथक करण हो जाता है। इसके पश्चात् पदार्थों की विशेषतायें भासित होती है, 'अमुक व्यक्ति है, ऐसे वस्त्रों वाला है आदि आदि। ऐसी वृत्ति उन पदार्थों की विशेषता प्रकट करने के कारण से 'विशेष' कही जाती है। उन्हीं पदार्थों को शब्द विशेष दिये जाने से वह वृत्ति विकल्पात्मक कही जाती है।

६- इस प्रकार दर्शन अन्तर्मुखी, निराकार, निर्विशेष व निर्विकल्प होता है और ज्ञान वहिर्मुखी साकार, सविशेष व सविकल्प होता है।

संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स।
गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेय भेयं च ॥४२॥
जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णये समये ॥४३॥ द्रव्य संग्रह

उपयोग की दर्शनात्मक वृत्ति ही अर्हत अवस्था में मुख्यतः हुआ करती है, ज्ञानात्मक वृत्ति तो उपचार से कही जाती है। इसलिए कहना चाहिए वहां वृत्ति सामान्य होती है। जिसके गर्भ में दर्शन ज्ञान सभी समाये रहते हैं। दूसरे वहां चैतन्य प्रकाश व्यापक होने के कारण वहां इस प्रकार का क्रमिक विकास नहीं होता, इसलिए विकल्प भी नहीं होते। विकल्पात्मक क्रमिक विकास न होने से हम उसको दर्शनात्मक ही कह सकते हैं परन्तु इतना विशेष है कि दर्शनात्मक उस वृति में साकार पदार्थ भी पड़े रहते हैं। परन्तु उनको विकल्प नहीं होता। क्योंकि सामान्य विशेष विहीन नहीं होता।

सामान्य हम जैसे जीवों को वह वृत्ति सामान्य विशेष वा दर्शन-ज्ञान-ज्ञान के क्रम से विकसित होती है, क्योंकि हमारे उपयोग में व्यापकता नहीं है।

हम अपने उपयोग को खोजें तो पायेंगे कि दर्शनात्मक वृत्ति ही आत्मदर्शन है- जो हमको निरन्तर हो रहा है- क्योंकि उस समय वह वृत्ति पदार्थ की ओर इतनी तेजी से भाग जाती है कि हम उसको पकड़ नहीं पाते हैं। वृत्ति बहुत तेजी से दौड़ रही है। इतनी तेजी से कि ज्ञान के इस क्रमिक विकास का भी आभास हम नहीं कर पाते।

९- वह वृत्ति आभास व प्रवाह रूप है। इसी को अन्य वैदिक दर्शन कारों ने पुरुष व प्रकृति कहा है। पुरुष ज्ञानात्मक है और प्रकृति क्रियाशील है। इसी को तांत्रिक लोगों ने कहा है- विश्व और शक्ति। विश्व ज्ञान रूप है और शक्ति क्रियाशील। परन्तु शक्ति शिव की अभिन्न अंग होती है।

१०- चिद्‌गुण जब अपनी क्रिया को स्वयं में समेट स्वयं रूप ही रहता है, तो द्वैतरूप नहीं होता है निर्विकल्प शान्ति रहती है।

# मन का सन्यास

५ जनवरी १९७१

१- जिस प्रकार बिना सेये अण्डों में से मात्र प्रार्थना के द्वारा बच्चे बाहर नहीं निकल सकते, इसी प्रकार बिना कोई क्रियात्मक प्रयोग किये मात्र प्रार्थनाओं के द्वारा जीवन की उपलब्धि नहीं हो सकती।

२- जिस प्रकार बिना प्रार्थना के भी मुर्गी अण्डों को गर्मी पहुंचाने का क्रियात्मक कर्म करने से अण्डों में से बच्चों को अनायास ही प्राप्त कर लेती है, इसी प्रकार ध्यान रूप रचनात्मक कर्म द्वारा मनुष्य अविद्या कापटल भेदन कर सहज चिन्मय जीवन की उपलब्धि कर लेता है। अतः धर्म प्रार्थनारूप नहीं, अपितु प्रयोगात्मक है।

३- जिस प्रकार इस वैज्ञानिक युग में एक बम को समुद्र में डालने पर समय वा असमय में भी बिना किसी यज्ञ वा इन्द्र देवता की पूजा के वर्षा को प्राप्त कर सकते हैं, ऐसी ही अध्यात्मक ध्यान के प्रयोग द्वारा हम भीतर में शान्ति वा आनन्द की वर्षा कर सकते हैं। अतः धर्म प्रयोग सापेक्ष है- मात्र प्रार्थना पर निर्भर नहीं। आज तक प्रार्थनाओं में सीमित रहने के कारण सदियां व्यतीत हो गई हम जीवन की उपलब्धि न कर सके और इसलिए धर्म व्यर्थ लगने लगा।

४- भोजन के लिए प्रार्थना करने पर बिना प्रयास के क्या भोजन मिल सकता है ? इसी प्रकार धर्म के अर्थ मात्र प्रार्थना से सत्य जीवन की उपलब्धि नहीं हो सकती। परन्तु प्रयोग करने पर हम मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर सकते हैं।

५- सभी दर्शनों व सम्प्रदायों में आत्म तत्त्व विषयक मतभेद हो सकते हैं, परन्तु ध्यान द्वारा सत्य की प्राप्ति में सभी एकमत हैं।

६- ध्यान द्वारा राग, द्वेष, मोह आदि विपरीत भावों व विकल्पों का शमन करने पर सहजानन्द की अनुभूति होती है इसमें किसी का भी मतभेद नहीं।

७- पंचम काल का बहाना ध्यान में बहुत बाधक है और प्रमाद जनक है। पंचम काल में चन्द्रमा पर पहुंच सकते हैं, प्रशान्त महासागर की गहराइयों में डुबकी लगा सकते हैं, तो क्या भीतर के चन्द्रमा पर नहीं पहुंच सकते, क्या भीतर के सागर की गहराइयों में नहीं पहुंच सकते। प्रयास करें तो कुछ तो सफलता मिलेगी ही चन्द्रमा पर पहुंचने के लिए ५० वर्ष लगते हैं तो स्वयं पर पहुंचने के लिए ६ महीने का प्रयोग कीजिए।

८- भीतर की गहराइयों में हम देखें तो पायेंगे कि उपयोग की वृत्ति बड़ी तेजी से दौड़ रही है उसमें ज्ञान के क्रमिक विकास का भी हमको आभास नहीं होता।

९- जिस प्रकार बाह्य इन्द्रिय विषयों के प्रति दौड़ती हुई वृत्ति बहिर्मुखी होती है, इसी प्रकार अन्तरंग में मन के भीतर भी विभिन्न विषयों पर दौड़ती हुई वृत्ति स्वयं से बहिर्मुखी होती है।

१०- वास्तव के चिद् वृत्ति बाहर निकल कर विषयों को स्पर्श नहीं करती, अपितु अन्तरंग में स्वयं से हटकर भीतर ही बहिर्मुखी हो जाती है। और स्वयं को ही दो रूप द्वैत रूप कर देती है। यही कहा है वेदान्तियों ने कि 'परमात्मा एक था' वह अपनी शक्तियों को समेटे वारि-सागर में सो रहा था उसने सोचा कि मैं बहुत हो जाऊं। तैसे ही उसने पाया कि सृष्टि बन गई।

११- जैसे ही उपयोग की वृत्ति स्वयं से हटती है, भीतर ही ज्ञानात्मक ज्ञेयों की कल्पना करती है, तैसे ही भीतर एक संसार की रचना हो जाती है। इसी को ही कहते हैं परमात्मा ने जगत् को स्वयं में से ही बनाया है जैसे मकड़ी अपनी राल से ही जाला बुनती है।

१२- हम उपयोग की दर्शन-ज्ञानात्मक वृत्ति को देखें तो पायेंगे कि ज्ञान में इन्द्रियों का आश्रय है, दर्शन में नहीं, दर्शन इन्द्रियातीत है, इन्द्रियातीत ही आत्मदर्शन वा आ आत्मस्थिति है।

१३- हम वृत्ति को देखें-तो पायेंगे कि कुछ रूप दौड़ रहे हैं और कुछ शब्द दौड़ रहे हैं। कभी वृत्ति मस्तिष्क की ओर दौड़ जाती है- और कभी हृदय की ओर तथा कभी नाभी की तरफ। सब बदल रहा है, एक प्रवाह चल रहा है, ऐसा प्रतीत होगा।

१४- लेकिन अभी तो हम देख पाये ही नहीं, कि स्वयं रूप बन जाते हैं, शब्द बन जाते हैं। दर्शक न रह कर दृश्य बन जाते हैं। परन्तु कुछ अभ्यास से हम भिन्न खड़े रह कर देख सकेंगे।

१५- धीरे-धीरे अभ्यास द्वारा मात्र वृत्ति को देखने का अभ्यास करते हुए हम पायेंगे कि शब्द समाप्त होने लग गये, वृत्ति नाभिकी ओर जा रही है ढीली हो रही है, तत्पश्चात रूप भी समाप्त हो रहे हैं। क्रमशः रूपों की समाप्ति होते होते एक प्रवाह मात्र रह गया है- प्रवाह चल रहा है- बड़ी मन्दगति से, अत्यन्त मन्द वह भी शान्त हो रहा है। शान्त अत्यन्त शान्त बिलकुल शान्त, स्थिर हो गया। प्रवाह के समाप्त होते ही मन मर गया, केवल उपयोग शेष रह गया। स्वयं परमात्मा शेष रह गया, अद्वैत रह गया, उसकी सम्पूर्ण शक्तियें उसमें समा गई। तभी एक भेद खुल जायेगा। वह भीतर का व्यक्ति जाग गया- जिसकी न मृत्यु होती है और न जन्म।

२१- क्रमिक रूप से पदार्थों का ज्ञान होने से वास्तव में वह वृत्ति ज्ञान व दर्शन रूप कहलाती थी। परन्तु अब क्रम नहीं-प्रवाह नहीं होने से मात्र वृत्ति शेष है- मात्र उपयोग है, भेद नहीं।

२२- ज्ञान के विकल्प वृत्ति को खण्डित करते हैं, उसकी सीमायें बनाते हैं अमुक वस्तु का ज्ञान, अमुक पदार्थ का ज्ञान। लेकिन जब विकल्पात्मक भेदों का निरास हो जाता है तो अखण्ड वृत्ति रह जाती है।

२३- एक भीतर में ऐसा प्रतीत होगा, भीतर को जा रहा है, वह देख रहा है, वह कुछ कर रहा है, तब भीतर का वह व्यक्ति जाग कर कुछ लिखता है, कुछ बोलता है। तो बाहर का आदमी कहता है मैं नहीं बोल रहा हूं कोई और बोल रहा है। कोई और लिख रहा है ऐसी स्थिति में लिखे गये शास्त्र-वेद वा ज्ञान सभी अपौरुषेय होगा। क्योंकि वह मन से मनन करने वाला पुरुष नहीं है जो लिख रहा है। वह तो भीतर का जाता हुआ परमात्मा लिख रहा है।

२४- वास्तव में जागा हुआ व्यक्ति ही सत्य का विवेचनकर सकता है। तब बाहर का बोलने वाला मनुष्य तो यह कहेगा ही मैं नहीं कह रहा हूं, परमात्मा कह रहा है भीतर में कोई कह रहा है।

२५- लेकिन सोया हुआ व्यक्ति, जागे हुए व्यक्ति की बात नहीं कह सकता। मनन करने वाला मनुष्य केवल बौद्धिक स्तर पर विचारात्मक अथवा शब्दात्मक विवेचन कर सकता है, परन्तु सत्य का नहीं। अन्धा व्यक्ति प्रकाश का अनुमान नहीं लगा सकता इसलिए आत्मा के- सत्य के स्तर पर अन्धे व्यक्ति यदि सत्य के विषय में कुछ कहें तो प्रलाप मात्र होगा, कुछ सुना सुनाया होगा तथा विभिन्न लोक स्वार्थ या राग रंगों से मिश्रित होगा। ऐसा शास्त्र समीचीन नहीं हो सकता।

# ऋजुता-जीवन का सार

६ जनवरी १९७१

१- एक रथकार ६ महीने में वक्रता रहित पहिये का तयार करता है, और छः दिन में वक्रता सहित पहिये को तैयार करता है। वक्र पहिया लुढ़क जाता है, परन्तु ऋजु पहिया सीधा खड़ा रहता है। यही दोनों में विशेषता है। इसी प्रकार मनुष्य के वक्र मन-वचन व काय हैं वे मनुष्य को पाप में, दुखों में तथा मृत्यु में लुढ़का देते हैं, परन्तु ऋजु मन-वचन व काय ऋजु गति से बिना लुढ़के खड़े रह कर सीधे परमात्मा के मन्दिर में पहुंचा देते हैं।

२- हमें अपने त्रिकरणों को ऋजु बनाने के लिए इनके स्वभाव को पढ़ना होगा। मन पहले विषय की ओर दौड़ता है, फिर विषय का विशेष व आकार ग्रहण करता है, तत्पश्चात तत्सम्बन्धी वचन विकल्प उत्पन्न हो जाते हैं। ये सब मानसिक क्रिया हुई, उसके पश्चात् मुख द्वारा वचन निकलते हैं तथा शरीर द्वारा क्रिया प्रारम्भ होती है।

३- तीनों करणों को संकुचित करने का क्रम बिल्कुल उल्टा होगा। अर्थात पहले शारीरिक चेष्टाओं को शिथिल करना होगा। तत्पश्चात् स्थूल वचनालाप को छोड़ मौन धारण करना अब मन की क्रिया को देखें-उपयोग की दौड़ती हुई वृत्तिको देखें। जैसे हम उसको मात्र देखने में सफल होंगे-तैसे तैसे शब्द समाप्त होने शुरु हो जायेंगे। फिर रूप व आकार भी विलुप्त होने शुरू हो जायेंगे। मात्र वृत्ति शेष रह जायेगी, और वह भी अखण्ड वृत्ति।

बन बैठता है। पदार्थ अनेक हैं तो स्वयं भी अनेक बन जाता है। यही उसका चित्र-विचित्र संसार है।

९- इसी लिए भगवन् कुन्द-कुन्द ने कहा है कि ज्ञानी हो कि अज्ञानी सभी अपने भावों के कर्ता हैं बाह्य पदार्थों के नहीं, और अपने ज्ञान वा अज्ञानमय भावों के भोक्ता हैं।

१०- इसलिए हम अन्तरंग का निरीक्षण करें। हमारा संसार हमारे भीतर है। गलती बाहर नहीं भीतर है। जब हम किसी व्यक्ति से अपशब्द सुनते हैं तो उससे उत्पन्न स्वयं के क्रोध को बुद्धि से विचारों से प्रशमन करना चाहते हैं परन्तु भीतर क्रोध भड़कता रहता है और पहले की शान्ति में भी दूध में जीवन वत् विष घोलता रहता है, तब हम परेशान हो जाते हैं। लाख प्रयत्न करने पर भी क्रोध कषाय मूल से नहीं जाती।

११- वास्तव में जो व्यक्ति दूसरों की गाली सुन रहा है और उस व्यक्ति को शून्यत्व की दृष्टि से देख रहा है तो उनकी वृत्ति क्रोध में हो चुकी है क्योंकि वृत्ति बहिर्मुखी है। इस प्रकार उसने अपशब्दों को बटोर लिया है तो वह जीवन में फूले फलेंगे ही। परन्तु जो साधक उन गाली के शब्दों का वा उस व्यक्ति को नहीं देखकर अन्तर्मुखी हो अपनी चित्त-वृत्ति को देख रहा है वहां पर उसको ये शब्द व व्यक्ति न मिलेंगे। शब्दों व रूपों का निरास होकर मात्र वृत्ति दिखाई देगी तब क्रोध क्यों आयेगा। राग, द्वेष, मोह जड़ मूल से भाग जायेंगे। इन ही प्रवृत्तियों का नाम बहिरात्मा व अन्तरात्मा कहलाता है।

१२- जिसकी वृत्ति आकारों, रूपों व शब्दों की ओर बहिर्मुखी है वह बहिरात्मा कहलाता है तथा जिसकी वृत्ति इनसे मुक्त हो कर अन्तर्मुखी है तथा मात्र अखण्ड वृत्ति है वह अन्तरात्मा व परमात्मा कहलाता है।

१३- जिस प्रकार ६ महीने में वक्रता रहित नक्श तैयार होता है जिस प्रकार २० वर्ष हम धनोपार्जन की लौकिक शिक्षा पाते हैं

पाते। क्योंकि विचार करने वाला, निर्णय करने वाला पहला व्यक्ति है परन्तु कार्य करने के समय कोई दूसरा मनुष्य आ गया है।

७- परन्तु जो व्यक्ति अखण्डता में है जिसकी अन्तरंग वृत्ति एक अखण्ड है- उसके भीतर एक व्यक्ति है अनेक नहीं। इसलिए वह सदा वही रहता है जो है। वह बदलता नहीं। इसलिए जो वह निर्णय करता है वही प्रेम से आनन्द से भर कर करता है।

८- जीवन में इतनी गन्दगी भेद की है और वही बाहर को भी गन्दा कर देती है व्यक्ति के भीतर का अद्वैत कुटुम्ब में एकत्व स्थापित कर देता है एक ही व्यक्ति घर को नरक मय बना देता है और एक ही स्वर्गमय। आईये, अपने घर को स्वर्गमय-आनन्दमय बनाइये। सोने से पूर्व तथा जगने के समय १५ मिनट अपनी अन्तरंग वृत्ति को देखने रूप, ध्यान साधना निश्चित एवं नियमित रूप से कीजिए। इसके अतिरिक्त चौबीसों घण्टे चलते फिरते भी वृत्ति दर्शन का अभ्यास कीजिए जब क्रोध से चिन्ता व उद्वेग व दुख से भरकर कर्म करते हैं। फिर वृत्ति का दर्शन करते निश्चिन्तता, शान्ति व प्रेम से भरकर कर्तव्य कर्म कीजिए। शायद प्रेम एवं शान्ति से भर कर किये गये कर्मों द्वारा आपको धन भी अधिक मिल जाये तथा शत्रुओं से भी मित्रता संगठित हो जाये और यह मनुष्य जीवन अर्थात् देह परमात्मा का मन्दिर बन जाये। जिसमें प्रेम का संगीत फूट पड़े और शान्ति का रस प्रवाहित हो, आनन्द का नृत्य होने लगे तब यह पृथ्वी भी स्वयं को भाग्यशाली समझने लगे।

—:oo:—

५- ध्यान 'निश्चय-ध्यान' द्वारा स्वयं के एकत्व को पहिचाने, एकत्व रूप हो जाये- तब सम्पूर्ण गड़बड़ी स्वतः हट जायेगी। भीतर शान्ति होने पर बाहर भी शान्ति शुरु हो जाती है।

६- यह समझ लेना जरूरी है कि बाह्य क्रिया उतनी ही सफल व कुशल होती है जितना व्यक्ति अक्रिया में होता है।

७- अक्रिया में जाने से क्रिया बन्द नहीं होती सिर्फ कर्ता मिट जाता है सिर्फ वह भाव मिट जाता है कि मैं करने वाला हूं। इसी भाव के मिटने से दुनिया में असुविधा न होगी बहुत सुविधा होगी। इस भाव के द्वारा दुनिया में बहुत असुविधा है।

८- प्रत्येक व्यक्ति को ख्याल है कि मैं कर रहा हूं। कर तो हम बहुत कम रहे हैं परन्तु कर्ता बहुत बड़ा खड़ा कर लेते हैं। उन कर्ताओं में, उन अहंकारों में संघर्ष होता है- दुनिया में जितनी असुविधा है वह अहंकारों के संघर्ष से पैदा होती है।

९- जितनी ही भीतर शान्ति होगी, निष्क्रिय चित्त होगा, मौन आत्मा होगी, उतनी ही वह मौन आत्मा शक्ति का स्रोत बन जायेगी। जितनी बेचैन अहंकार ग्रस्त, द्वन्द्वमें ग्रस्त, तनाव, अशान्ति से भरी आत्मा होगी उतनी ही शक्ति हीन हो जाती है।

१०- हम शक्ति के पुञ्ज नहीं है क्योंकि हमारे द्वन्द में मन की चिन्ता में, अहंकार में हमारी सारी शक्ति व्यय हो जाती है। परन्तु यदि भीतर बिल्कुल निष्क्रिय और मौन तथा एकत्व में हो जाये तो शक्ति का भण्डार बन जाये, शक्ति का अटूट भंडार बन जाये।

११- जब अनेकता व कर्तापन का अहंकार मर चुका होगा, तो परमात्मा की सारी शक्ति उसकी होगी। वह जो मध्य की दीवार है वह टूट गई इसलिए परमात्मा की सारी शक्ति उससे जुड़ गई। समग्ररूपेण समर्पित वह व्यक्ति परमात्मा के हाथ में क्रिया का स्रोत बन जायेगा।

अन्य भी ऋषिगण जब भीतर से निष्क्रिय हो गये तो बाहर से उनका जीवन उतना ही सक्रिय हो गया।

१७- भीतर की निष्क्रियता बाहर भी निष्क्रियता नहीं लाती अपितु और अधिक सक्रियता लाती है। अतः भीतर निष्क्रिय रहने के लिए ध्यान की साधना कीजिए।

१८- ध्यान के समय यदि प्रमाद आने लगे तो संसार की अनित्य आदि भावनाओं का चिन्तवन करें। ताकि प्रमाद दूर हो-प्राणों में एक तड़फन व जलन उत्पन्न हो जीवन को जानने की, जिससे आप सो नहीं सकें। वास्तव में योगियों ने जनता में अपने उप-देशों द्वारा एक प्यास उत्पन्न कर एक छटपटाहट लगादी, जिस से व्यक्ति सो न सके, उनको चैन न मिली और उनको भीतर के तल पर जागना ही पड़ा। जब व्यक्ति पूरे प्राणों से तड़फ उठता है तभी जागता है।

१९- घर में आग लगने पर फालिज आया हुआ व्यक्ति भी उठ कर भाग सकता है, क्योंकि उनको विचारने में शक्ति का व्यय करने का अवकाश ही नहीं। उसकी सारी शक्ति, पूरे प्राण भागने की तरफ लग जाते हैं तो वह अपने को घर से बाहर ही पाता है। इसी प्रकार जब पूरे प्राण, सम्पूर्ण शक्ति, छटपटा-हट के साथ सत्य को- स्वयं को जानने के लिए दौड़ेंगे तो हम भी स्वयं को परमात्मा के मन्दिर में पायेंगे।

—:oo:—

दीखती है, इसको बनाने में उन्हीं लोगों का उपकार है जिनके भीतर शान्ति है। जिनका मन व्यवस्थित है।

७- व्यक्ति भीतर में जितना शान्त होता है, जितना भीतर गहरे में उतरता है उतना बाहर में भी सक्रियता से फैलता है। जैसे जितनी वृक्ष की जड़ें गहरी होती हैं जितनी जमीन के भीतर फैलती है उतना ही वृक्ष पृथ्वी के ऊपर भी बढ़ता है व फलता व फूलता है।

—:००:—

नहीं। हम इनको ऊपर से पहिनना चाहते हैं इसीलिए लाख प्रयत्न करने पर भी वह सध नहीं सकती।

९- हम ब्रह्मचर्य को पालनेके लिए व्रत-नियम धारण करते हैंपरंतु बाह्यसे व्रत लेने पर भी क्या व्रती बन जाता है। हो सकता है चौबीसों घण्टे मानसिक अब्रह्म चलता हो। कारण कि काम वासना एक आत्मा की शक्ति है, वही जीवन की ऊर्जा है। उसको बाहर रोक दिया, दबा दिया। तो वह मन में बेचैनी लायेगी फ्राइड ने सबसे पहले कहा था जितनी बीमारियां होती हैं वे सब इसी ऊर्जा को रोकने से होती हैं।

१०- माता के स्तन में से यदि दूध न निकाला जाये तो जिस प्रकार वह सड़कर पीप बन जाता है- इसी प्रकार जीवन की ऊर्जा का प्रवाह सड़कर जीवन में शारीरिक व मानसिक अनेकों रोग उत्पन्न कर देता है।

११- इसका यह अर्थ नहीं कि फिर भोग द्वारा उस प्रवाह को प्रवाहित रखें। एक प्रवाह बाहर है और एक भीतर। बाहरका प्रवाह पर की अपेक्षा रखने के कारण सन्तापजनक, क्षय कारक होने से अब्रह्म कहलाता है और भीतर का प्रवाह शान्तिजनक, शक्तिवर्धक तथा स्वयं की ओर जाने वाला होने से ब्रह्मचर्य कहलाता है।

१२- जीवन की ऊर्जा का प्रवाह स्वयं की ओरप्रवाहित हो उसका साधन एक मात्र ध्यान का अभ्यास ही है।

१३- जब व्यक्ति स्वयं में पहुंच जाता है तब उसे स्त्री-पुरुष दिखाई नहीं देते। मात्र आत्मा दीखती है। क्योंकि भेद है ही नहीं।

१४- एक ओर आत्मा-परमात्मा के राग अलापते हो और दूसरी ओर स्त्री पुरुष के भेद। तो समझना चाहिए अभी आत्मा के दर्शन नहीं हुए- अभी तो चमड़े की पहचान चल रही है। या काम घूम रहा है।

१०- जिसका चित्त शांत हो चुका है, जिसके चित्त के मल धुल चुके हैं, उसके ज्ञान दीपक झंझावात भी बुझा नहीं सकती।

११- प्रारम्भिक अवस्थामें वाह्य मनों का नियम व्रत आदि लेकर त्याग किया जाता है, क्योंकि जब तक मन को विषय मिलते रहेंगे तब तक वह शांत नहीं हो सकता। तत्पश्चात् भीतर के मन को वासना विहीन करने के लिए ध्यान का आश्रय लेना होगा। जिससे मन शान्त होकर परमात्मा पद को प्राप्त हो जायेगा।

१२- ध्यान की साधना क्षेत्र में मस्तिष्क व सम्पूर्ण शरीर की स्नायु को ढीला कर दीजिए। पलकें ढीली हों, श्वांस भी ढीली हों। बस सब ओर से ढीला हो जाना है। मन एकाग्र होता है या नहीं इसकी फिकर मत कीजिए क्योंकि जैसे ही आप यह सोचने के लिए गये कि आप देखेंगे कि आपकी मस्तिष्क की नसें कस गई हैं। मैं देखूं भीतर मन में क्या चल रहा है, यह भी विचार नहीं करना क्योंकि शरीर कस जायेगा। आपको कुछ नहीं करना। बस शरीर से सम्बन्ध पृथक करने के लिए शरीर ढीला छोड़ना है। तब आपकी इन्द्रियां विषयों को देखती हुई भी न देखेंगी और मन स्वतः शान्त हो जायेगा।

१३- अथवा शरीर के भीतर आने जाने वाली श्वांस को देख। परन्तु उसके विषय में भी विचार मत करें। जैसे जैसे देखेंगे वैसे ही शरीर से सम्बन्ध छूटेगा, यदि शरीर का सन्तुलन ठीक न होतो सम्भवतः शरीर गिर भी पड़े। और वैसे-वैसे शान्ति मिलेगी। जिस प्रकार सोने पर शरीर विश्राम पाता है और मनोमय शरीर काम करता है। इसी प्रकार ध्याता का ध्यान में शरीर विश्राम पाता है। घण्टों तथा अभ्यास हो जाने पर दिनों भी ध्यान में रहें तो शरीर के थकने का तो प्रश्न ही नहीं अपितु विश्रान्ति मिलती है।

# पुरुषार्थ और परीक्षा

१० जनवरी १९७१

१- जिस प्रकार जल में पड़े स्नेह-युक्त काष्ठ को कोई अरणि से रगड़ कर अग्नि को प्रज्वलित नहीं कर सकता इसी प्रकार जो व्यक्ति काय द्वारा काम वासनाओं में लग्न हो विचरते हैं और जिनके भीतर की काम रुचि, कामपिपासा, काममूर्छा अभी नहीं गई हो तो वह व्यक्ति प्रयत्नशील होने पर भी व्यर्थ तीव्र, कटु, वेदना सह रहे हैं। वे परम ज्ञान के अयोग्य हैं।

२- जिस प्रकार स्नेह-युक्त गीला काष्ठ अरणि से अग्नि प्रज्वलित नहीं कर सकता इसी प्रकार भीतर में विषय वासनाओं से युक्त व्यक्ति ज्ञान-दर्शन के अयोग्य हैं।

३- जिस प्रकार स्थल पर पड़े सूखे व रुक्ष काष्ठसे अग्नि प्रज्वलित की जा सकती है, उसी प्रकार जो व्यक्ति काय द्वारा काम वासनाओं से अलग हो और उनका काम वासनाओं में काम परिदाह भीतर से भी सुप्रहीण हो गया हो। ऐसे व्यक्ति दुख, कटु वेदनायें नहीं पाते। ये ज्ञान दर्शन अनुत्तर संबोध के पात्र हैं। यदि कदाचित ये व्यक्ति दुख पायें भी तो प्रयत्नशील होने से परम ज्ञान के योग्य हैं।

४- वैज्ञानिक फ्रायड ने तीन प्रकार की वासनायें कही हैं-चिद् चिद् (चित्त) अचिद् अचिद् (अचित्त) जिन वासनाओं को हम नित्य अनुभव करते हैं, जिनसे प्रेरित होकर बाह्य विषयों में प्रवृत्त होते हैं उनको चिद् कहते हैं। जिन वासनाओं को हम जानते नहीं, साधारणतः अनुभव भी नहीं करते, परन्तु वे गुप्त वासनायें हमारे स्वप्न में प्रगट होती हैं वे चिद्-अचिद् कही

# मनोभावों का अध्ययन

१३ जनवरी १९७१

१- जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति वैद्य की औषधि का प्रयोग करके आंखों को प्राप्त न करने के कारण श्वेत वस्त्र, चन्द्र, सूर्य व शुभ्र आकाश के आनन्द को प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार कोई व्यक्ति धर्म का उपदेश सुनने पर भी यदि उसका आचरण न करे तो उसको सहज आनन्द की उपलब्धि नहीं होती और वक्ता का परिश्रम व्यर्थ जाता है, जिससे वक्ता को पीड़न व [illegible]

२

बालक माता के गर्भ से बाहर आता है। अतः धैर्य पूर्वक साधना कीजिए।

६- निश्चित समय की मौन साधना के अतिरिक्त चौबीस घं भी हम अपने भीतर को पढ़े। क्या चलता है हमारे भीतर क्रोध, मान-माया-लोभ, हिंसा, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, कटुता, मो आदि में से किन किन भावों से हम भरे हैं। शरीर से को भी क्रिया करें तथा वचन कुछ बोलें- तब भी विचारें हमा यह क्रिया किस अभिप्राय से प्रेरित होकर हो रही है।

७- क्रिया की बात नहीं है, मन के अभिप्राय की बात है। पढ़ मन की है। बाहर की क्रिया प्रेम पूर्ण हो परन्तु भीतर की द्वेष से रंगी भी हो सकती है। अतः मनो भावों का अध्यय करें।

८- जैसे जैसे व्यक्ति भीतर के अभिप्रायों को पढ़ते जायेगा औ उनको समझने लगेगा तैसे तैसे क्रियाओं में जो अशुभ है व सब छूटता चला जायेगा। क्योंकि संपूर्ण अभद्रता हृदय के स को ओझल करके आवेश में होती है। जब हम परदा हटादें त विवेक आने पर आवेश स्वयं समाप्त हो जायेगा अतः फि अभद्र कर्म होगा ही नहीं।

९- विवेक की किरण के फूटते ही पाप छूटते हैं और चि निष्कंप होने लगता है और साधक सम्पूर्ण विकल्प, वितर्क एवं अशुभ को छोड़ गंगा के पार आनन्द भूमि में पहुं जाता है।

—:००:—

अपनी ओर

# करम गति टारे नहीं टरै

१५ जनवरी १९७१

आज मनुष्य का मस्तिष्क मधु मक्खियों का छत्ता बना
है जिस प्रकार मधुमक्खियां विभिन्न स्थानों से मधु लात[ी]
और छत्ते पर उगल देती हैं और वहीं अण्डे देती हैं जि[...]
असंख्य मक्खियां वहां पल जाती हैं जरा उसको हिला [...]
तो भिन्न भिनाहट हो जायेगी। इसी प्रकार चारों ओर [...]
पाकर मनुष्य के मस्तिष्क में विचार संग्रहीत होते जा रहे है[ं]
और विचार और विचार। बराबर विचारों का तांता लगा है।
वे विचार अपने साथ सुख व दुख वेदनाओं जनित मधु भी
लेकर आते हैं। इस प्रकार मस्तिष्क भर चुका है।

इतने छोटे से मस्तिष्क में एक करोड़ स्नायु हैं यदि इनको
पृथ्वी पर फैला दें तो सारी पृथ्वी का परिक्रमा दे आवें।
विचारिये कितने सूक्ष्म तन्तु होंगे वे जो इन छोटे से सर में
समाये हुए हैं। उन सूक्ष्म तन्तुओं पर विचारों का इतना बोझ!
सहता है फिर भी वे टूट न जावें और मनुष्य पागल न हो जावे।

इन विचारों व तज्जनित वेदनाओं से विराम मिले- इसी
प्रयोजन के अर्थ यह ध्यान की प्रक्रिया है। ध्यान के तीन दृष्टियों
से लाभ हैं- व्यवहारिक, आध्यात्मिक व लौकिक।

व्यवहारिक रूप से अधिक विचारों के कारण मनुष्य का
मानसिक सन्तुलन भंग हो गया, उसका चित्त विक्षिप्त हो गया
है, जिससे शान्त कर न किसी से प्यार, प्रेम पाता है न मिल
पाता है। मन में निरन्तर क्रोध, द्वेष, क्षोभ व घृणा भरती है
इसी के कारण उसके चित्त भी उसके [illegible]

९. 'संसार में यह जीव क्यों भ्रमण कर रहा है। जीव स्वभाव से शान्त व शुद्ध होते हुए भी क्यों कर्मों के वशीभूत होता है। क्यों बन्धकर दुख सहता है। जीव व्यर्थ ही राग, द्वेष, मोह आदि भाव करके स्वयं को पापों से लिप्त करके दुख सह रहा है। इन कषाय व पाप रूप भावों से कैसे छूटूं, और शान्ति में स्थित होऊं।' इस प्रकार अपाय (उपाय) विचय का ध्यान करें।

१०. शुभ अशुभ स्वोपार्जित कर्मों के कारण जीव चतुर्गति में दुख उठाता है। शुभ कर्म के उदय से राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है और पुण्य का रस समाप्त होने पर राज्य खाक में मिल जाता है। राजा रंक बन जाता है। सभी जीव कर्मों के बन्धन में बन्धे हैं। कर्म के कारण रावण का विध्वंस हुआ, भ० पार्श्वनाथ पर उपसर्ग हुए, आदिनाथ भगवान को ६ माह तक निराहारी रहना पड़ा, रामचन्द्रजी को सीता के लिए वन वन फिरना पड़ा, पाण्डवों को जंगल की खाक छाननी पड़ी, चन्दन बाला आदि सतियों पर विपदायें आईं। कर्म किसी को नहीं छोड़ता। कर्म के हाथ में यह जीव कठपुतली की तरह नचाया जा रहा है। मैं कर्म विपाक से कैसे छूटूं, इसका उपाय करूं इत्यादि रूप कर्मों के विपाक का चिन्तन करने से आत्मस्थ भावना है और सजगता उत्पन्न होती है।

११. इस संसार में जन्म-मरण करते हुए मैंने अनन्तों बार पुण्य के फल से स्वर्ग में जन्म पाया, वहां के ऐश्वर्य एवं विभूतियां पाईं आज वे सब विनष्ट हो गईं। अनन्तों बार नरक में जन्म पाया, कितने ही बार सातवें नरक में गया, वहां अनिर्वचनीय पीड़ायें एवं यातनायें सहीं। तिर्यंचगति में हाथी, घोड़ा, शेर, चीता, ऊंट बना तथा कि चींटी, मकोड़ा एवं पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि भी अनन्तों बार बना और वहां ताड़न, मारन व छेदन

के दुख सहे। मनुष्यगति में अनन्तों वार जन्म लिया। तीनों लोकों में कोई ऐसा स्थान नहीं है जहां मैंने अन्नत वार जन्म व मरण न किया हो। तीनो लोकों में कोई ऐसा सुख व दुख नहीं है जो मैंने अन्नतवार न भोगा हो। तीनों लोकों में कोई ऐसा अणु नहीं है जो अनन्त वार मेरे शरीर व खाद्य का अंग न रहा हो। मैंने संसार में खूब भ्रमण किया परन्तु आज तक बोधिको प्राप्त न किया। स्वयं से अनभिज्ञ जगत में ठोकरे खाता रहा। इस प्रकार लोक के स्वरूप व चतुर्गति के विचार रूप चतुर्थ संस्थान विचय का विचार करे।

१२- उपरोक्त चारों प्रकार के विचार सजगता उत्पन्न करने के लिये हैं। उत्कण्ठा व जिज्ञासा को उत्तेजित करने व प्रमाद को भगाने के लिए है- ध्यान इससे आगे की अवस्था है।

१३- जब संसार की असत्यता का आभास होने पर सत्य की प्यास लगती है, तब ही विचार शृंखला चलती है, हृदय में छटपटाहट होती है। व्यक्ति सत्य की खोज के लिए जागरूक रहकर प्रयत्नशील हुआ करता है। इसी प्रयत्न से सत्य की उपलब्धि होती है।

१४- सच्ची खोज की विचार शृंखला दो प्रकार से चलती है- स्वचित् से अथवा परोपदेश से। स्वयं के जीवन में कोई पीड़ा व अभाव खेद जगावा मरणोन्मुखता या रोगादि हो तब विचार उत्पन्न होते हैं। अथवा बाहर की किन्हीं घटनाओं जैसे आदि-नाथ को नीलांजना की मृत्यु को देखकर किन्हीं को उल्कापात व इन्द्रधनुष आदि देखकर महात्मा बुद्ध को बुढ़ापा, रोग व मुर्दा देखकर सत्य विषयक विचार शृंखला चल पड़ी और उनकी सुप्त चेतना जागने को तड़प उठी। दूसरे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जिनको पढ़कर या उपदेशादि सुनकर जिज्ञासा उत्पन्न होती है। ऐसे व्यक्ति दूसरों के अर्थात शास्त्रों या गुरुओं

के सुझाये हुए संकेतों का आश्रय लेकर अपनी सुप्त चेतना को जगाया करते हैं और तब उनके हृदय में उनके आधार से स्वयं के भीतर भी सत्य के प्रति उत्कण्ठा जागृत होकर स्वयं के विचार उत्पन्न होने लग जाते हैं। चाहे जिस प्रकार से भी क्यों न हो। जीवन के प्रति की सजगता अभिप्रेत है। असत् से हटकर सत् के प्रति उन्मुख होना प्रयोजनीय है।

१५- निष्क्रिय ध्यान व प्राणानुसन्धान यद्यपि सरल ध्यान योग है। फिर आचार्यों ने उसी निर्विकल्प ध्यान में पहुंचने के अन्य तरीके भी बताये हैं। जो अब आगे बताये जायेंगे।

१६- पहले कहा जा चुका है- नाम और रूपात्मक मानसिक जगत् में से पहले नाम का विलय होता है, बाद में रूप का। अतः पहले नाम का विलय करने के लिए अब आगे चलेगा पिण्डस्थ ध्यान। जिसमें विचारना कुछ नहीं है, कोई शब्द नहीं देना है। केवल देखना है कि एक क्रिया चल रही है। जिस प्रकार इस स्थान पर बैठे हुए विभिन्न व्यक्ति हमारे सामने हैं, सब दीख रहे हैं परन्तु कौन कौन हैं उनका क्या नाम है ? ऐसा कोई विचार हमको नहीं है। बोलते हुए मेरे हिलते हुए हाथों की क्रिया को आप देख रहे हैं, 'क्या क्रिया है' इसका नाम कुछ नहीं। बस क्रिया चल रही है। जैसे सिनेमा के पर्दे पर चित्र मानो रूप क्रिया हो रही हो' ऐसे मात्र देखना है। इस प्रकार देखने से नाम तो समाप्त हो जायेंगे केवल आकार एवं रूप रह जायेगा। जिसमें आकार होंगे परन्तु सिनेमा के पर्दे पर विभिन्न छोटे बड़े व रंग बिरंगे चित्रों में व्याप्त प्रकाश के समानान्तर ज्ञान मात्र का आभास होगा। यही निराली परम शुद्ध पारिणामिक स्वरूप आत्मानुभूति या आत्मदर्शन है। यही योग है।

१३- पिण्डस्थ ध्यान में क्रम से पार्थिक आग्नेयपी-मारुती व वारुणी तथा तत्व रूपवती धारणा का दर्शन किया जाता है।

१४- इन रूपों को चित्र पट वत् देखने मात्र शब्द रूप विचार न करे। जब हम ध्यान के लिए बैठते हैं तब हमारे मस्तिष्क में विभिन्न विचार व आकृतियां आती है, केवल एक उनको ओझल करने के लिए इनका धारणाओं का दर्शन किया जाता है। वास्तव में तो इनको भी छोड़ना है।

१५- आकार का निरास ज्ञान और ज्ञेय रूप द्वैत का निरास है। आकार रूप ज्ञेय का निरास शुद्ध ज्ञान की उपलब्धि है। जिस के गर्भ में ज्ञेय विलीन हो चुके हैं।

—:oo:—

# रूप साधना

१७ जनवरी १९७१

१- इन्द्रिय संयमी तथा ध्यानाभ्यासी योगी ही काम पर विजय पा सकता है तथा सम्पूर्ण क्लेशों के पार पहुंच सकता है।

२- जो साधु स्वादिष्ट तथा नाना प्रकार के मधुर पकवान खा कर इन्द्रियों को पुष्ट बना लेता हो, शब्द व रूपादि विषयों में रम लेता हो तथा ध्यान में अनभ्यस्त हो, तो वह काम के गढ़े में ऐसा गिरता है जहां से निकलना असम्भवत् है।

३- भव व काम से बचने के लिए ध्यान की सिद्धि अपेक्षित है। जिनमें णमोकार मन्त्र कमलके पत्तों पर लिखा हुआ नाभि स्थान पर दर्शन करें। और भी बहुत मन्त्र हैं जो शास्त्रों से (ज्ञानार्णव) से जाने जा सकते हैं। जिनका दर्शन किया जा सकता है। इनको रूप साधना कहते हैं।

४- नाम से रूप में पहुंचने के लिए पुरुषार्थ अपेक्षित है- परन्तु रूप से अरूप में पहुंचने के लिए छलांग है अर्थात् साधक कब पहुंच जाता है उसको स्वयं को पता नहीं होता।

# रूप साधना

१७ जनवरी १९७१

१- इन्द्रिय संयमी तथा ध्यानाभ्यासी योगी ही काम पर विजय पा सकता है तथा सम्पूर्ण क्लेशों के पार पहुंच सकता है।

२- जो साधु स्वादिष्ट तथा नाना प्रकार के मधुर पकवान खा कर इन्द्रियों को पुष्ट बना लेता हो, शब्द व रूपादि विषयों में रस लेता हो तथा ध्यान में अनभ्यस्त हो, तो वह काम के गढ़े में ऐसा गिरता है जहां से निकलना असम्भवत् है।

३- भय व काम से बचने के लिए ध्यान की सिद्धि अपेक्षित है। जिसमें णमोकार मन्त्र कमलके पत्तों पर लिखा हुआ नाभि स्थान पर दर्शन करें। और भी बहुत मन्त्र हैं जो शास्त्रों से (ज्ञानार्णव) से जाने जा सकते हैं। जिनका दर्शन किया जा सकता है। इसको रूप साधना कहते हैं।

४- नाम से रूप में पहुंचने के लिए पुरुषार्थ अपेक्षित है- परन्तु रूप से अरूप में पहुंचने के लिए छलांग है अर्थात् साधक कब पहुंच जाता है उसको स्वयं को पता नहीं होता।

—:०:—

# सजगता

१६ जनवरी १९७१

१- शमशानों में रोज चितायें जलती देखते हैं- जीवन सत्य दर्शन वहां मिलता है, जो जड़ है वह मिट्टी में मिल जाता है जीवन का ज्वलंत सत्य तत्व इस देह- पुर को छोड़कर अन्यत्र गमन कर गया होता है।

२, पांचों इन्द्रियों तथा सम्पूर्ण अङ्गों सहित यह देह विद्यमान होते हुए भी उस चेतन प्रकाश विना निश्चेष्ट व तेजहीन हो जाता है।

३- देह को चालित करने वाले सुख व दुख का अनुभव करने वाले सत्य तत्व की खोज निकालना ही आध्यात्मिक दार्शनिकों की खोज है।

४- जब व्यक्ति मृत्यु के निकट पहुंचता है क्या करोड़ों रुपये खर्च करके भी वह मौत के भय से बच सकता है? अर्थात् नहीं। यदि ऐसा होता तो संसार में अमीर व्यक्ति कभी न मरते- मौत गरीबों की ही होती। परन्तु ऐसा नहीं है। मौत के सामने पैसे की कोई रिश्वत नहीं चलती।

५- क्या मृत्यु से कोई परिवार बचा सकता है? नहीं। सब पारिवारिक लोग खड़े देखते रह जाते हैं-मौत के सामने किसी की नहीं चलती।

६- जिसका शारीरिक बल व पौरुष विशेष है वह व्यक्ति भी मौत के चंगुल से नहीं बच सकता। एक मौत के सामने व्यक्ति का पौरुष का अहंकार भी तेज हीन हो जाता है।

७- धन परिवार व बल कोई भी मौत से नहीं बचा सकता। यमराज के समक्ष सब बल हीन-हथियार छोड़े खड़े रह जाते हैं। व्यक्ति देखते ही देखते इस देह को छोड़कर चल देता है।

# जिज्ञासु

२१ जनवरी १९७१

१- जिसको शाम को फांसी पर चढ़ना है ऐसे व्यक्ति को उसी दिन प्रातः राजा के यहां के भोज में जिस प्रकार भोजन करते हुए भी रसास्वादन नहीं हो पाता, उसको तो हर क्षण फांसी दिखाई देती रहती है। इसी प्रकार जिसको प्राकृतिक मौत निकट आती दिखाई दे रही है उसको भी सांसारिक भोगों में आनन्द नहीं आता, पंचेन्द्रियों के विषय उसके लिए नीरस हो जाते हैं।

२- फांसी चढ़नेवाले व्यक्ति की दो विशेषतायें हैं-एक तो नींद नहीं आती, विषयासक्ति व सबसे मोह छूटकर परमात्मा की ओर लगता है। फांसी छोटे राजा द्वारा प्रदत्त है और मौत बड़े राजा यमराज द्वारा। दोनों में इतना ही अन्तर है।

३- जिन व्यक्तियों को यमराज से आने वाली मौत का भाव जग जाता है वह व्यक्ति जीवन को पाने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। उसी को जिज्ञासु कहते हैं।

४- मौत के आने का भाव शब्दों में विचारात्मक नहीं होता, अपितु गहरे प्राणों में बैठा एक निःशब्द भाव है। जैसे सम्पूर्ण लौकिक जीवों को धन के प्रति का मोहात्मक भाव।

५- ध्यान के लिए भी ऐसे सजगता पूर्ण तथा विषय विरक्त भाव की आवश्यकता है जो कि सहजरूप से किन्हीं घटनाओं द्वारा अथवा अनित्यादि १२ भावनाओं के चिन्तवन पूर्वक हृदय में जग जाता है।

६- मौत के प्रति की सजगता ही वास्तव में जीवन के प्रति सजगता है, सत्य के प्रति सजगता है। जो व्यक्ति मौत के प्रति

११- प्रथम रूप का टकटकी लगा कर दर्शन करते हुए तथा गुणों का भावात्मक रूप से हृदय में गहराओं को लिये बैठेंगे। फिर धीरे धीरे रूप में ऐसे खो जायेंगे कि रूप मात्र रह जायेगा मैं नहीं अर्थात् द्वैत समाप्त हो जायेगा। तत्पश्चात् आकार भी लुप्त हो जायेगा और अरूप एवं निराकार आत्मा शेष रह जायेगी। इसी का दासोऽहं, सोऽहं व अहं इन शब्दों द्वारा विवेचन करते हैं।

१२- ध्यान करने अर्थात् ध्येय योग्य रूप महापुरुष होते हैं। ऐसे महापुरुष दो प्रकार के होते हैं– सिद्ध व साधक। सिद्ध भी दो प्रकार के होते हैं अर्हत् व सिद्ध। साधकों में आचार्य, उपाध्याय व साधु आते हैं।

१३- ऐसे महापुरुषों का जीवन दो प्रकार से प्रेरणा दायक होता है प्रवृति व निवृति रूप। बाहर में अकरणीय को त्याग करणीय की प्रेरणा देता है तथा भीतर में सम्पूर्ण मनोवृतियाँ उनमें केन्द्रित हो जाती है तब ध्यान की सिद्धि में सहायक होकर निवृति रूप प्रेरणा देता है।

१४- सिद्धों की तो वास्तव में कोई आकृति होती नहीं अतः यदि विशेष विचार करें तो स्पष्ट होगा कि सिद्ध बना जा सकता है किन्तु उसका ध्यान नहीं किया जा सकता। परन्तु फिर भी कल्पना से हमने उस निराकार को भी साकार बना दिया। अतः उसको तेज- पुञ्ज के रूप में देखेंगे।

१५- सामान्यतः रूपस्थ ध्यान पंच-परमेष्टी का ध्यान हो। इनमें रूपों को अर्थात् आकारों के ध्यान की सिद्धि नहीं करनी है अपितु इसमें तन्मय होकर सम्पूर्ण द्वैत का निरास करना है।

१६- आकार तो प्रयत्न पूर्वक के साधे हुए है और आत्मा एक भाव है जिसमें प्रयत्न रहित होकर होना है।

८- हठयोग से सामाजिक एवं बाह्य स्तर पर पापों को रोक दिया जा सकता है, परन्तु जब ध्यान द्वारा मन शांत न हो जाए तब तक उसके रुके रहने में बहुत संशय है।

६- अशांत चित्त से बाहर प्रवाहित होने वाली आत्मिक शक्तियां क्रोध, काम, हिंसा तथा चोरी रूप होती है तथा शांत चित्त से प्रवाहित होने वाली आत्मिक शक्तियां क्षमा, ब्रह्मचर्य प्रेम व अचौर्य रूप होती हैं।

१०- हठपूर्वक रोकी गयी वृतियां भीतर पड़ी सड़ जाती हैं और वे अशांति उत्पन्न कर देती हैं यदि उनको आत्मा की ओर प्रवाहित कर दिया जाये तो वे फूल बनकर खिलती हैं, आनन्द बन कर महकती हैं तथा प्रेम बन कर फैलती हैं।

११- बाहर से हटाकर वृतियों को भीतर की दिशामें प्रवाहित करने का द्वार ध्यान है।

१२- रूपस्थ ध्यान के समय आवश्यक ही नहीं कि पंच परमेष्ठि का ही ध्यान किया जाए। जिस किसी वस्तु का भी किया जा सकता है, क्योंकि वास्तव में तो अरूप में पहुंचना है।

१३- ध्येय विषय में अथवा मृत्यु के विषय में विचारने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यदि विचारने लगेंगे तो जान न पायेंगे। सोचने से कभी कोई तथ्य जाना नहीं जा सकता है।

१४- अगर एक खिलते फूल के विषय में आप सोचें तो आप पायेंगे। आप बहुत आगे निकल गए और फूल वहीं पड़ा रह गया। फूल एक तथ्य है फूलको जानना है तो फूलको सोचें मत-मात्र देखें। सोचने और देखने में महान अन्तर है। यही कारण है कि पाश्चात्य विद्वान विचारक कहलाए और भारतीय ऋषि दार्शनिक। विचारक और दार्शनिक में महान अन्तर है।

१५- सोचना और देखना विभिन्न प्रक्रियायें हैं। विचार पदा सामी होते हैं। विचार मौलिक नहीं होते, प्रेम के विषय में

# सन्यास

२३ जनवरी १९७१

१- बाहर से साधा हुआ सन्यास वा धर्म वस्त्रों से अधिक कुछ नहीं होता।

२- जिस प्रकार नवीन वस्त्र पहनने पर उनके प्रति आकर्षण व लुभाव रहता है लेकिन बाद में वे वस्त्र साधारण बन जाते हैं। इसी प्रकार सन्यास के वस्त्र पहनते समय तो उसके प्रति वह-मानव सजगता रहती है, कुछ ही समय पश्चात् वह सन्यास एक सामान्य सा वेष बन जाता है

३- बड़ी विचित्र बात है- एक गृहस्थ के छूटने पर एक बड़ा गृहस्थ बन जाता है- सन्यासी का और फिर भी वह अपने को सन्यासी समझता रहता है।

४- बाहर का सन्यास केवल स्थान, रूप, नाम व व्यक्तियों के संग परिवर्तन- मात्र तक है इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह ओढा हुआ सन्यास स्वयं को धोखा देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

५- जिन्होंने सन्यास को वस्त्र-वत् ओढ़ा है, ऐसे व्यक्ति बहुत मिलेंगे-क्योंकि एक वस्त्र छोड़कर दूसरा वस्त्रजो लोगोंकी दृष्टि में अधिक पूज्य व आकर्षक हो- पहन लेना सरल है। इसीलिए ऐसे सन्यासी जल्दी ही धर्म से वस्त्र बदल लेने वत् च्युत हो जाया करते हैं।

६- वास्तव में सन्यास वस्त्रों के बदल लेने से नहीं सधता क्योंकि वस्त्र तो शरीर पर धारे जाते हैं। सन्यास की साधना तो आत्मा की, स्वयं की भीतर की साधना है।

७- संन्यास लाया नहीं जाता अपितु भीतर से आया करता है, लाई हुई चीज अवश्य छूट जाती है, परन्तु भीतर से आई हुई स्थायी रहा करती है, उसके छूटने का प्रश्न नहीं। जिस प्रकार नकली बनी हुई माँ बच्चे को कटवा कर आधा आधा कटवा सकती है, परन्तु असली माँ बच्चे को पूरा दूसरे को देकर स्वयं खाली गोद रह कर सन्तुष्ट रह सकती है।

८- संन्यास बाहर से भीतर जाने का मार्ग नहीं है। बल्कि व्यक्ति ध्यान के द्वार से भीतर जाकर और संन्यास के द्वार से बाहर निकलता है। इसी प्रकार संन्यास भीतर से स्वतः आता है।

९- महावीर, बुद्ध आदि महापुरुषों के संन्यास भीतर से आता है, इसलिए उनको कभी किसी भी तरह की स्मृति की आलोचना ही नहीं हुई, कोई समाज का भय ही नहीं हुआ, किसी के देख लेने का डर नहीं हुआ। ऐसे व्यक्ति सदा अडिग रहे हैं। परन्तु जो व्यक्ति ऊपर से संन्यास को ओढ़ लेते हैं तो ९५ प्रतिशत भ्रष्ट होते देखे जाते हैं। जैसे पार्श्वनाथ के साथ दीक्षित होने वाले कितने ही मार्ग भ्रष्ट हो गए और कितने पुनः गृहस्थ हो गए।

१०- जीवन की क्रान्ति का द्वार ध्यान है और संन्यास उसका फल है। जब व्यक्ति ध्यान द्वारा स्वयं की निजता से परिचित होता है। परमात्मा को उपलब्ध हो जाता है तब उसके लिए घर और बाहर सब बराबर हो जाते हैं, जीवित रूप में भी मुक्त बन जाते हैं, गृहस्थी का जीवन भी परमात्मा का मन्दिर बन जाता है। घर और बाहर के भेद छूट जाते हैं। यही सच्चा संन्यासी है।

११- संन्यासी का अर्थ जीवन से पलायन होना नहीं है। अपितु वास्तविक संन्यासी [illegible] हुआ होता है, और [illegible] होता है। जीवन के प्रति [illegible] होता है।

कहते हैं क्षय। परन्तु चेतना को आंशिक रूप से ढांकती रहे। जिससे चेतना पूर्ण रूप से विकसित न हो पावे। जैसे वह एक हाथ व पांव कटा हुआ शत्रु दूसरे हाथ से नुकसान पहुंचाता रहता है। ऐसे इस आंशिक प्रगट चेतन भाव को क्षयोपशम भाव या लब्धि कहते हैं।

९- ऐसा क्षयोपशम भाव तो सामान्यतः तिर्यंचों में भी यहां तक निगोदिया में भी पाया जाता है। क्योंकि एक निगोदिया भी अपनी एक इन्द्रिय (स्पर्शन) के द्वारा कुछ जानता है, अनुभव करता ही है। यदि वह ऐसा अनुभव न करता तो वह जड़ बन जाता। फिर मनुष्यों में क्षयोपशम लब्धि की क्या विशेषता रही ? अतः समझना चाहिये सामान्यतः जानने के अतिरिक्त विशेष रूप से विचारने की इन्द्रिय ही आपेक्षित है। जिसको मन कहा है। अतः क्षयोपशम लब्धि से तात्पर्य मन इन्द्रिय की उपलब्धि से है।

१०- मन एक ऐसी सूक्ष्म इन्द्रिय है जो बाहर में तो दिखाई नहीं देती और इसीलिए यह बाहर से विकृत भी नहीं हो सकती। मन इन्द्रिय के होने पर उसके अनुरूपक्षयोपशम ज्ञान तो होगा ही।

११- चौइन्द्रिय तक के तिर्यंचों में मन पाया ही नहीं जाता है। इसलिए वे कुछ विशेष विचारना द्वारा कर्तव्य अकर्तव्य का विवेक करने में असमर्थ हैं। अतः वे तो प्रकृति के हाथ बिके हैं। क्रमोन्नत योनियें प्राप्त करने में उनका कोई विशेष पुरुषार्थ नहीं है। इसलिए उन्हें भोग प्रधान योनियें कहा है। दैव योग से ही उन्नत योनियें उनको उपलब्ध होती हैं। कहा भी है मनुष्य भव चौराहे पर पड़ा चिन्तामणि रत्नवत् उपलब्ध होता है।

# मनुष्य की विशेषता

२७ जनवरी १९७१

१- प्रकृति की ओर से तिर्यञ्चों को जो स्वभाव उपलब्ध होता है वे बेचारे कुछ भी परिवर्तन यंत्रवत कोल्हू के बैल की तरह करते हैं जैसे शेर, बिल्ली, कुत्ता, चूहा। सभी एक समान तथा स्वभावानुकूल वर्तन करते हैं। वे अपने स्वभाव का अतिक्रम नहीं कर सकते। परन्तु मनुष्य स्वेच्छा से कर सकता है यही मनुष्य की विशेषता है। अतः वह अपने तथा दूसरे के जीवन की रक्षा का उत्तरदायी है।

२- कुत्ते को रोटी मिलती है तो खा लेता है, नहीं घूमता रहता है जो विषय उपलब्ध होता है वह भोग लेता है। अर्थात् कहने का तात्पर्य यह है कि जैसा उपलब्ध होता है वह उसी के अनुसार सुखी होता है, रोता है, खाता है, सोता है। परन्तु उसके मानसिक चिन्तवन नहीं चलता। जबकि मनुष्य जैसा उपलब्ध होता है उससे प्रतिकूल मानसिक चिन्तवन भी करता रहता है। आज रोटी है उसको न खा कर कल की चिन्ता करता है। यही मनुष्य का दूसरे प्राणियों से अन्यथात्व है।

३- मनुष्य का यह अन्यथात्व या विचार एवं विवेक सामर्थ्य ही उसका महत्व व गौरव है। जिससे वह जीवन के रहस्यों को खोज सकता है। तथा दुःख, शोक, जन्म, जरा, मृत्यु एवं वैमनस्य के सागर से तर सकता है।

४- क्योंकि ध्यानके विषयमें मनका निर्मूल हो जाना ही परमतत्व दर्शन है। परन्तु वह विवेकपूर्वक पूर्ण जागृति एवं सजगतापूर्वक ही होता है अर्थात् मन रूप शस्त्र द्वारा सम्पूर्ण शत्रुओं का क्षय करके अन्त में मन भी स्वयं में विलीन हो जाता है। अन्यथा

तो समझो जीवों के मन होता तो उन्हें भी उनको ध्यान की सिद्धि का प्रसंग आयेगा । जबकि ऐसा नहीं है ।

५- अधिकतर लोग भोग परायण होते हैं, वे ऐसे स्थानों पर ही उत्पन्न होते हैं जहां पर खाना, पीना, सोना व रोने के अतिरिक्त अन्य कुछ विचार ही नहीं होता । अतः वे वासना व कषाय बहुत जीव देह को ही जीवन मानते हैं । संसार में सभी जीव ऐसे ही दिखाई देते हैं ।

६- जो देहात्म परायण हैं वे देहानुकूल भोगों को प्राप्त करने में ही अपनी विचार सामर्थ्य को स्वाहा कर देते हैं । जो यन्त्र व शक्ति उसको भाग्य से मिली थी उसको व्यर्थ गंवा देते हैं । परमात्मा के अतिरिक्त कोई ऐसा मनुष्य है जो कि मन रूप यंत्र का निर्माण कर सके ? अर्थात् लाख अविष्कार करने पर भी मन यंत्र का निर्माण नहीं हो सकता ।

७- देहात्म परायण व्यक्ति जीवन में स्थायित्व के भ्रम से भोग संग्रह करता है, जब उसकी भोग लिप्सा की पूर्ति होती है तो खुश होता है । जब उसमें विघ्न पड़ता है तो क्रुद्ध एवं दुखी होता है । भोगों की प्राप्ति के लिए मायाचारी करता है, उसकी प्राप्ति होने पर लोभ व तृष्णा बढ़ती है । उसकी प्राप्ति में ही मान होता है तथा प्राप्ति में विघ्न पड़ने पर क्रोध एवं द्वेष बढ़ते हैं । इस प्रकार सभी मनुष्यों में अपनी योग्यता स्थिति व शक्ति अनुसार तीव्र व मंद वासना एवं कषायें पनपती हैं ।

८- कषाय का यह अर्थ नहीं कि आदमी एक दम दूध की उफान की तरह हर समय उबलता ही रहे । ऊपर से शांत रहने वाला मनुष्य भीतर में अधिक कषायला हो सकता है ।

९- इसलिए भीतरमें सूक्ष्मरूपसे पड़ी रहनेवाली कषायको वासना कहा है और ऊपर जोर से प्रकट होने वाली कषाय को लेश्या । लेश्या की अपेक्षा वासना अधिक भयंकर होती है, क्योंकि वह

जिसका मन-मल धुल चुका हो। इसी योग्यता व संकेत की उपलब्धि को देशना लब्धि कहते हैं।

१८- जैसे जैसे संकेत उपलब्ध होते हैं, वैसे खोज शुरु होती है जैसे जैसे खोज होती है वैसे मन मैल धुलते हैं। जिस प्रकार जैसे जैसे साबुन लगता है तो कपड़ा मैल छोड़ता है। इसी प्रकार जब पिपासा से मन के आवरण कटने लगते हैं तथा विवेक से सपाप मन धुलता है तब अतीव प्रसाद एवं प्रमोद होता है। जीवन हल्का हो जाता है। इसी को प्रायोग्यलब्धि कहते हैं।

१९- जिस महात्मा बुद्ध ने राहुल को पांव धोकर शेष बचा लोटे में थोड़ा सा जल दिखाकर कहा था कि राहुल देखते हो लोटे में कितना बचा सा जल है। इसी प्रकार साधक का भवजल इतना मात्र शेष रह जाता है। शेष सब जल विनष्ट हो जाता है।

२०- आचार्यों ने कहा है- कर्मों की स्थिति जब ७० कोड़ा कोड़ी सागर से घटकर एक कोड़ा कोड़ी सागर से भी कम रही है। तो इसमें क्या आश्चर्य है।

— :००: —